कसायपाहुड चुण्णिसुत्त

उपस्थापना

कसायपाहुड की प्रस्तावना में हमने जैन सिद्धान्त और आगम की मौलिक परम्परा तथा प्राकृत के विकास क्रम पर कुछ प्रकाश डाला था । यहां षट्खण्डागम तथा कसायपाहुड चुण्णिसुत्त के प्रसंग में भी यही विषय प्रासंगिक है । अतः तत्सम्बद्ध बिन्दुओं पर कुछ और मन्थन करना आवश्यक है ।

1. आचार्य धरसेन

आचार्य धरसेन दिगम्बर जैन परम्परा सम्मत सिद्धान्त के मूल आचार्य रहे हैं । वे अष्टांग महानिमित्त के पारगामी और मन्त्रविद्या के कुशल ज्ञाता थे । सौराष्ट्र के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में तपस्या करते समय उन्हें अंगश्रुत के विच्छेद की गहरी आशंका का भय सताने लगा । उसी समय दक्षिण में महिमा नगरी में एक वृहत् मुनि सम्मेलन हो रहा था । उन्होंने वहां के आचार्यों के नाम एक पत्र भेजकर यह निवेदन किया कि षट्खण्डागम का अध्ययन करने के लिए उनके पास किन्हीं दो आगम पारंगत मुनियों को शीघ्र ही भेजें क्योंकि उनका जीवन काल अधिक नहीं है । तदनुसार मुनि सम्मेलन ने आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को धरसेन के पास भेजा । धरसेन ने उन्हें षड्खण्डागम का ज्ञान देकर आषाढ शुक्ला एकादशी को वापिस भेज दिया । वापिसी यात्रा में उन्होंने अंकलेश्वर में चातुर्मास किया ।

धरसेन के गुरु कौन थे इस विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । हां, नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली के आधार पर माघनन्दि को उनका गुरु और अर्हद्बलि को दादागुरु कहा जा सकता है । पुष्पदन्त और भूतबलि उनके ही शिष्य थे । जम्बुद्दीवपण्णत्ति (गाथा 13.154,156) में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है ।

धरसेन एकांगधारी आचार्य थे । वीर निर्वाण सं. 583 तक आचार्य परम्परा में माघनन्दि का समय रहा और उसके बाद 614 तक धरसेन ने संघ का नेतृत्व किया । उनके बाद ही पुष्पदन्त का 633 तथा भूतबलि का 663 तक कार्यकाल रहा है । नन्दिसंघ प्राकृत पट्टावली के इस आधार पर इन सभी आचार्यों का समय ई. की प्रथम शताब्दी निश्चित किया जा सकता है ।

धरसेन के ग्रन्थ 'जोणिपाहुड' का उल्लेख वृहट्टिप्पण नामक सूची में आता है । इसकी एक प्रति भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना में सुरक्षित है पर उसके कर्ता का नाम वहां 'पण्हसवण' अंकित है । संभवतः यह नाम धरसेन के प्रसिद्ध विशेषण के रूप में प्रसिद्ध हो गया हो । वे प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि के धारक थे, मन्त्र–तन्त्र के कुशल विशेषज्ञ थे, अष्टांगनिमित्त के पारगामी थे, अंग और पूर्वों के एकदेशज्ञ थे तथा महाकम्मपयडि के वेत्ता थे । अग्रायणीपूर्व के पंचम वस्तु के चतुर्थ प्राभृत का व्याख्यान उनकी गंभीर विद्वत्ता का प्रमाण है । यही व्याख्यान षड्खण्डागम का आधार रहा है । श्रुतविच्छिन्नता और श्रुतावतार का सम्बन्ध आचार्य धरसेन, गुणधर, पुष्पदन्त और भूतबलि से रहा है । इसे हम यों देख सकते हैं ।

2. श्रुतविच्छिन्नत्ता और आचार्य काल गणना

तीर्थंकर महावीर का निर्वाण ई. सन् 527 वर्ष पूर्व (वि. सं. से 470 वर्ष तथा शक सं. से 605 वर्ष पूर्व) हुआ, यह अब निर्विवाद रूप से माना जाने लगा है । इस घटना के बाद इतिहास में रावजंशों और आचार्यों की कालगणना की गई है । दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में मतभेद भी यहीं से प्रारम्भ होते हैं ।

दिगम्बर जैन परम्परा में त्रिलोकप्रज्ञप्ति (4.1476–1484), धवला (अ. 1, पृ. 66) और जयधवला (अ. 1 पृ. 85) में तथा श्वेताम्बर परम्परा के भगवती सूत्र (श. 20) पट्टावली समुच्चय (पृ. 20), कल्पसूत्र स्थविरावली, आदि ग्रन्थों में आचार्य काल गणना इस प्रकार दी गई है –

	दिगम्बर परम्परा		श्वेताम्बर परम्परा
1.	केवली – 2	62 वर्ष	64 वर्ष
2.	चर्तुर्दशपूर्वधर श्रुतकेवली – 5	100 वर्ष	106 वर्ष
3.	दशपूर्वधर – 11	183 वर्ष	414 वर्ष
4.	ग्यारह अंगधारी – 5	220 वर्ष	
5.	आचारांग धारी – 4	118 वर्ष पूर्वधर – 10	416 वर्ष
		683 वर्ष	1000.00 वर्ष

इस संदर्भ में श्वेताम्बर आचार्य परम्परा की ओर विशेष दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है जो वीर निर्वाण संवत् के बाद प्रारम्भ होती है –

1) केवली व पूर्वधर	2) श्रुतकेवली काल
इन्द्रभूति गौतम – वी.नि.सं. 12	प्रभवस्वामी – 64 से 75
1) सुधर्मा – वी.नि.सं. 1 से 20	सय्यंभव – 75 से 98
2) जम्बू – 20 से 64	यशोभद्र – 98 से 148
	संभूतविजय – 148 से 156
	भद्रबाहु – 156 से 170

3. दशपूर्वधर–काल

आचार्य भद्रबाहु के बाद वी. नि. सं. 170 से दशपूर्वधर काल का प्रारम्भ होता है और 584 में समाप्त होता है । श्वेताम्बर परम्परा में 414 वर्ष का यह काल माना जाता है । यही काल दिगम्बर परम्परा में वी. नि. सं. 192 से 345 तक कुल 183 वर्ष का है । श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह आचार्य परम्परा इस प्रकार है –

8) स्थूलभद्र – वी. नि. सं 170 से 215
9) महागिरि – वी. नि. सं 215 से 245
10) सुहस्ती – वी. नि. सं 245 से 291
11) गुणसुन्दर – वी. नि. सं 291 से 335

इनमें महागिरि और सुहस्ती से विभिन्न शाखाओं ने जन्म लिया । महागिरि वाचक वंश परम्परा से सम्बद्ध थे जो इस प्रकार है –

1) सुधर्मा, 2) जम्बू, 3) प्रभव, 4) शय्यंभव, 5) यशोभद्र 6) संभूतविजय, 7) भद्रबाहु, 8) स्थूलभद्र, 9) महागिरि, 10) सुहस्ती, 11) बलिस्सह, 12) स्वाति, 13) श्याम, 14) सांडिल्य, 15) समुद्र, 16) आर्यमंगु, 17) धर्म, 18) भद्रगुप्त, 19) वज्र, 20) रक्षित, 21) आनन्दिल, 22) नागहस्ती, 23) रेवतिनक्षत्र, 24) ब्रह्मदीपक सिंह, 25) स्कन्दिल, 26) हिमवन्त, 27) नागार्जुन, 28) गोविन्द, 29) भूतदिन्न, 30) लौहित्य, 31) दूष्यगणि, और 32) देवर्धिगणि । यह वाचक वंश आगम ज्ञान की विशुद्ध परम्परा का कुशल मर्मज्ञ था । इस समय तक आचार्य के कर्तव्यों और अधिकारों को तीन भागों में बांट दिया गया था – गणाचार्य, वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य । इन सभी की आचार्य परम्परायें अपनी–अपनी मानी जाती हैं ।

सुहस्ती की भी एक लम्बी परम्परा रही है । कल्पसूत्र स्थविरावली की परम्परा उनकी ही परम्परा थी – 1) सुधर्मा, 2) जम्बू, 3) प्रभव, 4) शय्यंभव, 5) यशोभद्र 6) संभूतविजय–भद्रबाहु, 7) स्थूलभद्र, 8) सुहस्ती, 9) सुस्थित–सुप्रतिबद्ध, 10) इन्द्रदिन्न, 11) दिन्न, 12) सिंहगिरि, 13) वज्र, 14) रथ, 15) पुष्पगिरि, 16) फल्गुमित्र, 17) धनगिरि, 18) शिवभूति, 19) भद्र, 20) नक्षत्र, 21) दक्ष, 22) नाग, 23) जेहिल, 24) विष्णु, 25) कालक, 26) संपलित–भद्र, 27) वृद्ध, 28) संघपालित, 29) हस्ती, 30) धर्म, 31) सिंह, 32) धर्म, 33) सांडिल्य ।

नन्दिसूत्र की स्थविरावली के अनुसार महागिरि तथा उपरोक्त दोनों परम्पराओं के आचार्यों की नामावली इस प्रकार है – 13) बल्लिस्सह, 14) श्यामाचार्य (कालकाचार्य) वाचनाचार्य, 14) षांडिल्य, 15) समुद्र, 16) मंगु, 17) नन्दिल, 18) नागहस्ती । इन आचार्यों के समकालीन और भी अनेक गणाचार्य और संघाचार्य हुए हैं ।

4. सामान्य पूर्वधर काल – यह काल वी. नि. सं. 584 से वी. नि. सं. 1000 तक रहा है । इस काल में आर्य रक्षित सार्ध नव पूर्वों के ज्ञाता हुए । उनके बाद पूर्वज्ञान की परम्परा का ह्रास होता रहा । कौन–कौन से आचार्य कितने–कितने पूर्वों के ज्ञाता रहे, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वी. नि. सं 1000 तक संपूर्ण रूपेण 1 पूर्व का और शेष पूर्वों का आंशिक ज्ञान विद्यमान रहा। इस परम्परा के आचार्यों की नामावली इस प्रकार है – 19) रक्षित, 20) दुर्बलिका पुष्यमित्र, 21) वज्रसेन, 22) नागहस्ती, 23) रेवती मित्र, 24) आर्य सिंह, 25) नागार्जुन, 26) भूतदिन्न, 27) लोहित्य, 28) दूष्यगणी, 29) देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ।

उपर्युक्त दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं की ओर दृष्टिपात करने पर हम उनमें यह अन्तर पाते हैं –

1) दिगम्बर परम्परा में केवलियों का समय वी. नि. सं से 62 वर्ष तक माना गया है जबकि श्वे. परम्परा यह समय 64 वर्ष है । यहां गौतम गणधर को छोडकर परम्परा का प्रारम्भ सुधर्मा से किया गया है।

2) दिगम्बर परम्परा में चौदह पूर्वधारियों का समय वी. नि. सं. 62 से 162 तक 100 वर्ष माना गया है जबकि श्वे. परम्परा में उनका यह समय वी. नि. सं. 64 से 170 तक 106 वर्ष माना गया है । भद्रबाहु को छोडकर शेष चारों चौदह पूर्वधारी आचार्यों के नामों में अन्तर है ।

3) दिगम्बर परम्परा में दशपूर्वधारियों का समय वी. नि. सं. 162 से 145 तक 183 वर्ष का उल्लिखित है जबकि श्वे. परम्परा में यह समय वी. नि. सं. 170 से 584 वर्ष तक 414 वर्ष माना गया है । आचार्यों के नामों में भी कोई साम्य नहीं है । यहां अन्तर अधिक हो गया है ।

4) श्वे. परम्परा में पूर्वधर काल वी. नि. सं. 584 से 1000 वर्ष तक 416 वर्ष माना गया है । देवर्धिगणि क्षमाश्रमण अन्तिम एक पूर्वधारी थे । पर दिगम्बर परम्परा में पांच आचार्य ग्यारह अंग धारियों का समय 220 वर्ष तथा चार आचारांगधारी आचार्यों का समय 118 वर्ष माना जाता है । इस तरह कुल 683 वर्ष का समय गौतम गणधर से लोहाचार्य पर्यन्त माना गया है । इसमें उसके बाद सभी आचार्य पूर्वज्ञान और अंगज्ञान के एक देशधर ही हुए । आचार्य गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबली ऐसे ही आचार्य थे । श्वे. परम्परा में पूर्वज्ञान वी. नि. सं. से 100 वर्ष तक बना रहा जबकि दिगम्बर परम्परा में यह पूर्वज्ञान वी. नि. सं 345 में ही विच्छिन्न हो गया था । 655 वर्ष का यह अन्तर निश्चित ही विचारणीय है । यह इन्द्रनन्दि श्रुतावतार की परम्परा है । नन्दिसंघ प्राकृत पट्टावली इस परम्परा को 118 वर्ष पीछे ढकेल देती है । जो भी हो, पूर्वज्ञान के बाद आचारांगादि के विच्छेद का भी उल्लेख दिगम्बर परम्परा में मिलता है पर अंगबाह्य आगमों के उच्छेद के विषय में कोई उल्लेख देखने में नहीं आया । इसका कारण शायद यह रहा हो कि अंग बाह्य ग्रन्थों का परिगणन द्वादशांगों से बाहर है ।

लगता है, एक लम्बे समय तक श्रुतपरम्परा दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से प्रचलित रही है । वैचारिक और सैद्धान्तिक मतभेद जैसे–जैसे उग्रतर होते गये, दूरियां बढती गईं । मूल आचारांगादि आगम ग्रन्थों के उद्धरण दिगम्बर ग्रन्थों में बहुत मिलते हैं, मूल गाथाएँ दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों में समान रूप से उद्धृत हुई हैं, अचेलक परम्परा के मूल उल्लेख आचारांगादि में स्पष्ट रूप से देखे जाते हैं, वहां साम्प्रदायिक विकास के सोपानों को भी भलीभांति पहचाना जा सकता है, भाषात्मक विकास की रेखाएँ भी सरलता से खींची जा सकती हैं, विषय–वस्तु का बहुभाग भी उपलब्ध हो रहा है । इतना सब होते हुए भी यह यक्षप्रश्न भी हमारे सामने खडा है कि दिगम्बर ग्रन्थों में जो प्राचीन उद्धरण आगमों के मिलते हैं वे वर्तमान में उपलब्ध

आगमों में दिखाई क्यों नहीं देते ?और कुछ ऐसे भी उल्लेख वहां आ गये हैं जो जैन परम्परा से मेल नहीं खाते। किन्हीं कारणों वश आचारांग के सातवें 'महापरिन्ना' जैसे महत्त्वपूर्ण अध्याय लुप्त भी हो गये हैं । ये सभी ऐसे कारण हैं जो यह कहने को बाध्य करते हैं कि एक हजार वर्ष के दौरान मूल आगमों में काफी परिवर्तन–परिवर्धन किया गया है । उसका मूल स्वरूप विच्छिन्न हो गया है । यह स्वाभाविक भी है । साम्प्रदायिकता और मौखिक परम्परा के कारण मौलिकता पर आंच तो आती ही है । आवश्यकता है, उसके मूल रूप को खोजने की, उसे स्थिर करने की । आचारांग, कसायपाहुड, षड्खंडागम, मूलाचार आदि ग्रन्थों के तलस्पर्शी अध्ययन करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा ।

दोनों परम्परायें यह समान रूप से स्वीकार करती हैं कि वीर निर्वाण के बाद पूर्वज्ञान का क्रमशः ह्रास होता गया । चतुर्दश पूर्वधर श्रुत केवली तक कालगणना में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता है। यह अन्तर दशपूर्वधरों से अधिक हुआ है । दिगम्बर परम्परा में यह काल कुल 683 वर्ष तक रहा है जबकि श्वेताम्बर परम्परा इस काल को वीर निर्वाण से 1000 वर्ष तक ले जाती है । तदनुसार देवर्धिगणि क्षमाश्रमण एक पूर्व के अन्तिम ज्ञाता थे और आर्य रक्षित सार्ध नव पूर्वों के । इन्द्रनन्दि श्रुतावतार (143–144) में यह परम्परा कुछ अलग है।

यहां यह दृष्टव्य है कि अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु को दोनों परम्परायें समान रूप से स्वीकार करती हैं । दिगम्बर परम्परा में उनका कार्यकाल 29 वर्ष माना गया है और महावीर निर्वाण के 162 वर्ष बाद आता है । श्वेताम्बर परम्परा उनका कार्यकाल 14 वर्ष और निर्वाण 170 वर्ष बाद मानती है। यह आठ वर्ष का अन्तर कोई विशेष अन्तर नहीं है । दोनों परम्परायें यह भी स्वीकार करती हैं कि भद्रबाहु निमित्त ज्ञानी थे और द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष होने के कारण बारह हजार मुनिसंघ के साथ दक्षिण की ओर चले गये थे । उनके साथ चन्द्रगुप्त मौर्य भी थे जिन्होंने जिनदीक्षा लेकर विशाखाचार्य नाम ग्रहण किया था । विशाखाचार्य दशपूर्वधारी थे । चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु प्रथम की समकालीनता असन्दिग्ध है। श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं 17, 18, 40 और 108 भद्रबाहु को श्रुतकवली तथा चन्द्रगुप्त को उनका शिष्य बताते हैं। चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक 312 ई. पू. (527–215) इतिहास में प्रसिद्ध है ही ।

जैन परम्परा में भद्रबाहु द्वितीय भी हुए हैं जिनसे सरस्वती गच्छ की नन्दि आम्नाय की पट्टावली प्रारम्भ होती है । यह समय ई. सन्. से 53 वर्ष पूर्व की है । यह भद्रबाहु चरमनिमित्तधर थे । संभवतः निर्युक्तिकार भद्रबाहु यही रहे हों । श्रुतकेवली भद्रबाहु के लगभग 300 वर्ष बाद निर्युक्तिकार भद्रबाहु हुए हैं । निर्युक्तिकार भद्रबाहु के गुरु का नाम यशोभद्र है जबकि श्रुतकेवली भद्रबाहु के गुरु का नाम गोवर्धनाचार्य बताया गया है । श्रुतकेवली भद्रबाहु को वराहमिहिर का भाई बताना एक ऐतिहासिक भ्रान्ति ही है ।

जैन परम्परा में श्रुतविच्छिन्नता की परम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद ही प्रारम्भ हुई । खारवेल शिलालेख की 16 वीं पंक्ति ''मुरियकाल वो छिनं च चोयठि अंग सतिकं तुरियं उपादयति'' भी इस तथ्य को पुष्ट करती है ।

इस पट्टावली की विशेषता यह है कि 683 वर्ष काल में एकांगधारी अर्हद्वली माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि अन्तर्भूत हो जाते हैं । जबकि इन्द्रनन्दि श्रुतावतार में यह समय लोहार्य तक ही सीमित माना गया है । संभवतः लोहार्य तक की आचार्य परम्परा में कोई मतभेद नहीं रहा होगा । उसके बाद की परम्परा संघभेद की परम्परा के कारण पृथक् पृथक् हो गई होगी । नन्दिसंघ की पट्टावलि के अनुसार महावीर निर्वाण से लोहाचार्य तक 683 वर्ष के स्थान पर 565 वर्ष का ही उल्लेख है । दोनों कालगणना में 118

वर्ष का यह अन्तर दश, नौ, आठ अंगधारी आचार्यों की कालगणना में ही है ।

जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य के समय संघ भेद हो चुका था। हरिषेण ने अपने वृहत्कथाकोश में स्पष्टतः कहा है कि दुर्भिक्ष समाप्ति के बाद संघ मध्य देश की ओर वापिस आया । रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य अथवा स्थूल भद्राचार्य सिन्धुदेश गये जहां साधु शिथिलाचारी हो गये थे और नग्नत्व को ढांकने के लिए अर्धफलक हाथ में लेने लगे थे । यह स्थविरकल्प का प्रारम्भ था । उसके बाद ऋजुवस्त्र ग्रहण करने की प्रथा हो गई । मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त अवशेषों में से एक शिलापट्ट में अर्धफलक लिए एक साधु का रूपांकन हुआ है । हरिभद्र के संबोह पकरण में भी इसका उल्लेख हुआ है । गुह्यांग को ढांकने के लिए उस समय चोलपट्ट रखा जाता था जो लगभग चार हाथ लम्बा होता था ।

उपर्युक्त कथा का रूप जो भी रहा हो, पर उसमें ऐतिहासिकता अवश्य झांक रही है । उसमें आये जिनचन्द्र संभवतः जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण रहे होंगे । यह सम्प्रदाय भेद आचारांग आदि प्राचीन अंग साहित्य में दिखाई नहीं देता । इसका उल्लेख हुआ है विशेषावश्यक भाष्य और कल्पसूत्र निर्युक्ति में एक अलग तरह से ही । जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने तो एक नया निन्हव जोडकर आठ निन्हव बता दिये और बोटिक शिवभूति से दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति भी कह दी । पर यह सही नहीं है । संघभेद का मूल कारण वस्त्र की स्वीकृति और अस्वीकृति रही है । उत्तराध्ययन का केशी–गौतम संवाद भी इस तथ्य को स्मृति–पथ पर ला देता है । इसका उत्स आचारांग सूत्र 209 में आया सान्तरुत्तर शब्द है जिसका अर्थ होता है आवश्यकता पडने पर ही वस्त्र का उपयोग करना । अर्थात् पार्श्वनाथ सम्प्रदाय के साधु शीत ऋतु के आने पर वस्त्र ग्रहण कर लेते थे और ग्रीष्म ऋतु के आने पर छोड देते थे । इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि वे मूलतः अचेलक थे । परन्तु महावीर के अनुयायी सान्तरुत्तर नहीं होते थे । प□चाशक प्रकरण (17.8.10) में कहा गया है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के अनुयायी साधु स्वभवतः कठिन और वक्रजड होने के कारण अचेलक रहते थे पर मध्यवर्ती तीर्थंकरों के काल में साधु सरल और बुद्धिमान थे अतः सान्तरुत्तर हो जाया करते थे । तथ्य तो यही है कि श्वेताम्बर साधु को भी अचेलक और अपरिग्रही होना आवश्यक माना गया है (आचारांग – 5.150 – 152; ठाणांग सूत्र 5) । जिनकल्प और स्थविरकल्प के पीछे यही भाव थे । उत्तरकाल में अचेल का अर्थ भी अल्पमूल्यचेल हो गया ।

श्रुतिच्छिन्नता का सम्बन्ध श्रुतकेवली भद्रबाहु से है । उनके काल में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के बाद श्वेताम्बर परम्परानुसार पाटलिपुत्र में महावीर निर्वाण के लगभग 162 वर्ष बाद प्रथम वाचना हुई । इसमें ग्यारह अंगों का संकलन किया गया और दृष्टिवाद उस संकलन से बाहर रहा । उसके जानकार मात्र भद्रबाहु थे जो नेपाल में महाप्राण योग साधना में संलग्न थे । उनके पास जाकर स्थूलभद्र ने उसका अध्ययन किया पर वे मात्र दस पूर्वों का ही अध्ययन कर सके और शेष चार पूर्व उन्हें वाचना भेद से ही मिल सके। कालान्तर में 584 वर्षों के बाद दशपूर्वों का भी लोप हो गया (तित्थोगाली 801,2) । दिगम्बर परम्परा दशपूर्वों का विच्छेद महावीर निर्वाण के 345 वर्ष बाद मानती है ।

दशपूर्वों के विच्छेद होने के बाद विशेषपाठियों का भी विच्छेद हो गया । दिगम्बर परम्परा इस विच्छेद को महावीर निर्वाण के 683 वर्ष बाद मानती है पर श्वेताम्बर परम्परा उसे लगभग 1000 वर्ष बाद की घटना स्वीकार करती है । उसके अनुसार आर्यरक्षित अन्तिम युग प्रधान आचार्य थे जिन्होंने विशेष पाठियों का ह्रास देखकर उसे चार अनुयोगों में विभक्त किया । फिर भी पूर्वों का लोप बचाया नहीं जा सका ।

महावीर निर्वाण के 291 वर्ष बाद एक और द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष पडा उसके बाद आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में द्वितीय आगम वाचना हुई । महावीर निर्वाण के 827 वर्ष बाद हुए, तीसरे द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के उपरान्त द्वितीय आगम वाचना हुई । इसी समय बलभी में नागार्जुन के नेतृत्व में हुई एक और वाचना का उल्लेख मिलता है ।

इसी बीच लगभग 172 ई. पू. चेदि महानृप कलिंग खारवेल ने भुवनेश्वर की उदयगिरि पहाडी पर इसी तरह का एक यति सम्मेलन बुलाया जिसमें जिनकल्पी और स्थविरकल्पी सभी साधुवर्ग सम्मिलित हुए। इसमें जैनागम परम्परा को समृद्ध किया गया ।

माथुरी और बलभी वाचना के लगभग 150 वर्ष बाद बलभी में आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में एक और वाचना हुई जिसमें विश्रृंखलित और विच्छिन्न आगमों को लिपिबद्ध किया गया । इस समय भी द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष पडा था (समय सुन्दरगणि रचित सामाचारीशतक) । ''वायणंतरे पुण'' कहकर यहां पाठान्तरों का भी उल्लेख कर दिया गया ।

श्रुतविच्छिन्नता के सन्दर्भ में यहां निम्नलिखित उद्धरण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं –

1) वारस संवच्छरीए महते दुब्भिक्खे काले भत्तट्ठा अण्णण्णतो हिंडियाणं गहणगुणणणुप्पेहाभावाओ विप्पट्ठे सुत्ते (जिनदास महत्तर कृत नन्दिसूत्र चूर्णि) ।

2) श्रीदेवर्धिगणि क्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिक नवशतकवर्षे जातेन द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष वशात् बहुतरसाधु व्यापृत्तौ च जातायां....तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टेन न्यूनाधिकान् त्रुटितात्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढाः कृताः । (समय सुन्दरगणि रचित सामाचारी शतक)

इन दो उल्लेखों से निम्नलिखित तथ्य उद्घटित होते हैं –

1) वीरनिर्वाण संवत् 980 में संघ के आग्रह से देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण बहुश्रुतों के विच्छिन्न होने से अवशिष्ट श्रुत को अपनी बुद्धि के अनुसार पुस्तकारूढ किया ।

2) त्रुटित और विस्मृत भाग को यथाप्रसंग जोडा–घटाया और आगमों की प्रतियां की गईं।

3) 'वायणंतरे पुण' कहकर पाठभेदों का भी उल्लेख किया ।

4) देवर्धिगणि के पूर्व पुस्तक लेखन का कोई कार्य नहीं हुआ । अतः उन्हें संकलयिता के साथ रचयिता भी कहा जा सकता है ।

5) दिगम्बर सम्प्रदाय ने आगमों की इस संकलन विधि को स्वीकार नहीं किया ।

6) बारहवां अंग दृष्टिवाद इस समय तक प्रायः लुप्त हो चुका था । अन्य अंग भी छिन्न–भिन्न हो चुके थे ।

देवर्धिगणि के बाद भी आगमों में परिवर्तन होते रहे हैं । भाषागत और विषयगत परिवर्तनों के मूल कारणों में लिपिकर्ता तथा टीकाकार प्रमुख हैं । टीकाकारों ने जिन पाठों का उल्लेख किया है वे वर्तमान में उपलब्ध संस्करणों में नहीं मिलते । भाषा की प्राचीनता पर भी अर्वाचीन तत्त्व मढे हुए दिखाई देते हैं। अचेलकता से सम्बद्ध अधिकांश उद्धरण लुप्त हो गये हैं । आचारांग का सातवां अध्ययन 'महापरिन्ना' सम्पूर्णतः लुप्त हो गया । समय के अनुसार टीकाओं में साम्प्रदायिकता का गहरा अभिनिवेश दिखाई देता है । संभवतः दिगम्बर परम्परा ने उन्हें इस कारण भी अस्वीकार कर दिया हो ।

पं. कैलाशचंद्र शास्त्री ने हमारा ध्यान कतिपय ऐसे उद्धरणों की ओर आकर्षित किया है जो वर्तमान में उपलब्ध आगमों में नहीं मिलते । उदाहरण तौर पर भगवती आराधना के संस्कृत टीकाकार अपराजित सूरि ने जिन आगमों से जो उद्धरण दिये हैं वे आज वहां उपलब्ध नहीं हैं । आचारांग, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, वृहत्कल्पसूत्र, निशीथसूत्र, भगवती सूत्र आदि प्राचीन आगम ग्रन्थों से जो उद्धरण कतिपय आचार्यों ने प्रस्तुत किये हैं वे वर्तमान में प्राप्त आगमों के उन संस्करणों में उपलब्ध नहीं होते (जैन साहित्य का इतिहासः पूर्वपीठिका, पृ. 525–7)।

यह स्थति वाचना के पश्चात् लिपिबद्ध आगमों के साथ जुडी हुई है । लिपिबद्ध होने के पूर्व की स्थिति तो और भी बदतर रही होगी ।

इस सन्दर्भ में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि दिगम्बर साहित्य में इन वाचनाओं आदि का कोई उल्लेख नहीं मिलता । संभव है ये वाचनायें उत्तरकाल में बौद्ध संगीतियों के अनुकरण पर संयोजित की गई हों । दूसरी बात यह है कि दिगम्बर परम्परा में महावीर के उपदेशों को इन्द्रभूति गौतम गणधर ने बारह अंगों में ग्रथित किया जिसे उन्होंने अपने शिष्य सुधर्मा को और सुधर्मा ने जम्बूस्वामी को सौंप दिया। परन्तु श्वेताम्बर परम्परा में गौतम का कोई स्थान नहीं है । वहां सुधर्मा से ही परम्परा प्रारम्भ होती है। वाचना भेद के पीछे यह भी एक मुख्य कारण हो सकता है । वाचना भेद से आचार भेद और आचारभेद से गणभेद होता है । गणधर ग्यारह थे और गण नौ ही थे । तीसरी बात यह है कि गौतम गणधर के समान सुधर्मा के मुंह से कोई प्रश्न नहीं किये गये । इसके साथ ही अंगों का संकलन तो हुआ पर अंग–ज्ञान की परम्परा का कोई निर्देश नहीं । स्थूलभद्र ही अंतिम चतुर्दश पूर्वधर थे । जो भी हो, पूर्वों का लुप्त होते जाना दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य है । दिगम्बर परम्परा श्रुतविच्छिन्न होने के बावजूद अपनी परम्परा गौतम गणधर से प्रस्थापित करती है जो 683 वर्ष तक चलती रहती है पर श्वेताम्बर परम्परा में भद्रबाहु श्रुतकेवली के बिना ही अंगों का संकलन होता रहा है । गुरु–शिष्य परम्परा का दर्शन वहां नहीं होता । इसलिए आगमों में जुडाव–घटाव होने की संभावना अधिक बढ गई ।

भद्रबाहु द्वितीय ने (37 ई. पू.) कुन्दकुन्द, 41 ई. पू. से 44 ई.) लोहाचार्य (14 ई. पू. 38 ई.) और अर्हद्बली ने दक्षिणवर्ती मूलसंघ को प्रारम्भ किया । आचार्य अर्हद्बली के ही समय एक और यति सम्मेलन हुआ जिसमें आचार्य धरसेन द्वारा भेजे गये प्रस्ताव पर विचार किया गया । फलतः संघ ने पुष्पदन्त और भूतबलि को उनके पास सौराष्ट्र में पूर्वों के अध्ययनार्थ भेजा । भूतबली पहले सौराष्ट्र के राजा शक क्षहरात थे – गौतमीपुत्र से पराजित होने के बाद उन्होंने जैन दीक्षा लेकर यह नाम पाया था। वड्ढमानु शिलालेख से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है कि महिमानगरी में यह यति सम्मेलन हुआ था और उसी के फलस्वरूप षट्खण्डागम की रचना हुई थी । आन्ध्र के विजयवाडा क्षेत्र से प्राप्त प्रथम शताब्दी के एक ब्राह्मी शिलालेख से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है । षट्खण्डागम की रचना श्रुतविच्छिन्नता की समस्या से निपटने का मार्ग माना जा सकता है ।

4. श्रुत और उसके भेद

श्रुत को परम्रागत आगम कहा गया है और श्रुत की अपेक्षा आगम को अधिक महत्त्व दिया गया हैं । फिर भी समस्त आगमिक साहित्य को श्रुत की संज्ञा दी गई है। नन्दीसूत्रटीका पृ. 193) में उसे परम पुरुष का रूपक बताकर उसके अंगों के आधार पर द्वादशांग कहा जाता है । जयधवला (भाग 1, पृ. 3) और धवला (पु. 1 पृ. 6) में उसे 'सुयदेवया' कहकर सम्मान दिया गया है । बाद में श्रुत का अर्थ सुना हो गया जिसका सम्बन्ध परम्परा से है । सुयगंडग का सुय शब्द कदाचित् इसी परम्परा को सूचित कर रहा है । आगम का अर्थ भी परम्परागत श्रुत से है जिसे सिद्धान्त भी कहा जाता है । उसका मूल सम्बन्ध तीर्थंकर महावीर के वचनामृत से है जिसे गौतम गणधर ने ग्रन्थ रूप में ग्रथित किया । अतः महावीर को भावश्रुत का और अर्थपदों का कर्ता माना जाता है तथा गौतम गणधर को ग्रन्थ रूप श्रुत का कर्ता कहा जाता है । यह ग्रथन सूत्र शैली में हुआ है जिसका अर्थ है ।

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम् ।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः ।।

श्रुत के बारह भेद हैं – आचारांग, सूत्र कृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद । इनमें दृष्टिवाद बहुत विशाल श्रुत था । उसके पांच भेद हैं – परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका । इनमें पूर्वगत के चौदह भेद हैं–उत्पाद, अग्रायणी, वीर्य, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, कर्मप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, अबन्ध्यप्रवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार । ये पूर्व ग्रन्थ संभवतः तीर्थंकर महावीर के समक्ष रहे होंगे । इन्द्रभूति गणधर भी संग्राहक के रूप में माने जा सकते हैं।

समूचे द्वादशांग एक साथ नहीं लिखे जा सकते हैं । अतः कतिपय अंग ग्रन्थों का लिखित रूप महावीर निर्वाण के बाद उपलब्ध रहा होगा । वारली शिलालेख महावीर निर्वाण के 84 वर्ष बाद का है। तब तक लेखन परम्परा प्रारम्भ हो चुकी थी । यह तथ्य भी अंगों की प्राचीनता सिद्ध करता है । आगम साहित्य के लिए गणिपिटक भी कहा गया है श्वेताम्बर परम्परा में ।

5. दृष्टिवाद

इनमें दृष्टिवाद का महत्त्व इसी से आंका जा सकता है कि बारह अंगों के साथ ही चतुर्दश पूर्वों का पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है । आचार दिनकर के अनुसार श्वेताम्बर सम्प्रदाय में महिला वर्ग को दृष्टिवाद के अध्ययन करने का अधिकार नहीं दिया गया । यह विधान कदाचित् इसलिए किया गया होगा कि दृष्टिवाद बडा गंभीर दार्शनिक अंग था जिसे समझना महिलावर्ग के लिए बडा कठिन था । नन्दिसूत्र (41 वां, पृ. 192) के अनुसार चतुर्दशपूर्वी और अभिन्नदशपूर्वी का ज्ञान ही सम्यक्श्रुत है । वाचनाओं के माध्यम से मात्र ग्यारह अंगों का संकलन किया जा सका, पूर्वों का नहीं, क्योंकि भद्रबाहु वाचना में संमिलित ही नहीं हुए । पूर्व का अर्थ प्रथम और प्रधान है । यही उसका महत्त्व है ।

दृष्टिवाद का उल्लेख समवायांग में ही मिलता है जबकि चौदह पूर्वों का उल्लेख ज्ञातृधर्मकथा, अन्तकृद्दशा और प्रश्नव्याकरण में हुआ है ।

उपांगों से ही दृष्टिवाद की जानकारी अधिक प्राप्त होती है । नन्दिसूत्र, महानिसीथ, अनुयोगद्वार और आवश्यक निर्युक्ति में द्वादशांग का वर्णन आता है । इसका तात्पर्य है कि उस समय तक दृष्टिवाद आचार्यों के समक्ष अस्तित्व में था । नन्दिसूत्र में तो दृष्टिवाद की विस्तृत विषयसूची दी गई है । दृष्टिवाद के ही भेद चौदह पूर्व थे । ग्यारह अंगों की उत्पत्ति भी पूर्वों से ही मानी गई है । यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अंगों का उल्लेख कहीं कहीं आचारांग से न होकर सामायिक से हुआ है । (आ. नि. 93) षट्खण्डागम (पु. 9, पृ. 188) में भी यह परम्परा दिखाई देती है ।

श्रुत के चौदह भेद हैं जो अनेक प्रकार से साहित्य में मिलते हैं – अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य, कालिक और उत्कालिक, गमिक और आगमिक आदि । दृष्टिवाद को गमिक और कालिक को आगमिक श्रुत कहा गया है । लगता है, कालिक उत्कालिक का भेद अंग बाह्य में अधिक हुआ है । हेमचंद्र ने एकादशांग को भी कालिक माना है । भगवती सूत्र के अनुसार पूर्व के आठ तथा अन्त के आठ जिनान्तरों में कालिक श्रुत का विच्छेद नहीं हुआ । पर मध्य के सात जिनान्तरों में कालिक श्रुत का विच्छेद हुआ है । संभवतः एकादशांग को कालिक श्रुत माना गया है । पर दृष्टिवाद के साथ कालादिविधि का उल्लेख नहीं आता। कालिक श्रुत का अध्ययन तीन नयों के माध्यम से किया जाता है पर दृष्टिवाद में नय का निषेध कर दिया गया है । यहां समस्त नयों का उपयोग होता है। दूसरी बात, कालिक श्रुत उद्देश, अध्ययन, और श्रुतस्कन्ध में विभाजित किया जाता है जबकि दृष्टिवाद में पाहुड, और वस्तु अधिकार होते हैं । कसायपाहुड, षड्खण्डागम, समयपाहुड आदि में दृष्टिवाद की इसी परम्परा का पालन किया गया है ।

नन्दिसूत्र में दृष्टिवाद का विस्तार से परिचय दिया गया है । तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार उसमें 363 दृष्टियों का खण्डन किया गया है और उनके अनुयायियों के नामों का भी उल्लेख मिलता है । सर्वार्थसिद्धि, धवला, जयधवला में भी दृष्टिवाद का विशेष परिचय दिया गया है । दिगम्बर परम्परा की समूची जैन परम्परा का प्रथम आद्य लिखित कसायपाहुड ग्रन्थ ज्ञानप्रवाद नामक पाचवें पूर्व के दसवें वस्तु पेज्जपाहुड अधिकार से उद्भूत हुआ है । उसके लेखक आचार्य गुणधर को अंग और पूर्वों का एकदेश ज्ञान परम्परा से प्राप्त था । इसी

तरह षड्खण्डागम का उद्गम अग्रायणी नामक दूसरे पूर्व के चयनलब्धि नामक पंचम वस्तु अधिकार के चतुर्थ कर्मप्रकृतिप्राभृत से हुआ है ।

6. श्रुत प्ररूपणा के प्रकार

आगम में श्रुतज्ञान की प्ररूपणा दो प्रकार से की गई है – 1) निवृत्यक्षर या स्थापनाक्षर की मुख्यता से, और 2) लब्ध्यक्षर की मुख्यता से । इन दोनों में निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है । यह प्रारम्भ में गुरुपरम्परा से ही ज्ञानगम्य रहा है । वह पुस्तकारूढ नहीं हो सका ।

प्रथम प्ररूपणा के अनुसार जितने मूल अक्षर और उनके संयोग है उतने श्रुतज्ञान के भेद हैं । 27 स्वर, 23 व्यंजन और 4 अयोगवाह, ये 64 श्रुत के मूल अक्षर हैं और इनके संयोगी अक्षरों की संख्या है 18446744073709551615 । इन अक्षरों से अर्थपद और प्रमाणपद बनते हैं जो लोकप्रसिद्ध हैं। परन्तु इन्द्रभूति गौतम गणधर ने अंगप्रविष्ट श्रुत की जिस पद से परिगणना की गई है उसे मध्यमपद कहा गया है । अर्थपद अनियत अक्षरों वाला होता है । प्रमाणपद आठ अक्षरों का होता है और चार पदों का श्लोक होता है । इसी से ग्रन्थ की परिगणना की जाती है । परन्तु अंगश्रुत की परिगणना मध्यम पद से की गई है जिसमें श्रुतज्ञान के कुल अक्षरों की संख्या 16348307888 मानी गई है और बारह अंगों के कुल पद 1128358005 होते हैं (धवला पु. 13, पृ. 276) । यहां संयोगाक्षर को एक ही अक्षर माना गया है ।

द्वितीय प्ररूपणा में श्रुतज्ञान के मूल भेद 20 हैं । श्रुतज्ञान में सबसे जघन्य ज्ञान का नाम लब्ध्यक्षर है । यह केवलज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण है । इसमें सब जीव राशि का भाग देने पर जो भाग लब्ध आवे, उसे उसी लब्ध्यक्षर ज्ञान में मिलाने पर श्रुतज्ञान के प्रथम भेद पर्याय ज्ञान की उत्पत्ति होती है । श्रुतज्ञान का दूसरा भेद पर्यायसमास है जिसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं और श्रुतज्ञान के 20 भेद माने गये हैं –पद, पदसमास, आदि । ये भेद मुख्यतया पूर्वगत श्रुत को ध्यान में रखकर ही किये गये हैं । श्रुत के इन भेदों का अन्तर्भाव अनुयोगद्वार समास में होता है । इसका विशेष विवरण धवला पुस्तक 13 में दृष्टव्य है।

दृष्टिवाद के परिमाण को पदों से मापा गया है । पद का तात्पर्य है जिससे अर्थ बोध हो सके । दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में द्वादशांग के पदों का प्रमाण इस प्रकार किया गया है –

(षट्खण्डागम पु. 1, पृ. 99–107: समयचक्र कर्मग्रन्थ पृ. 17)

	अंगनाम	ग्रन्थप्रमाण	दि. परम्परा	श्वे. परम्परा
1.	आचारांग	2554	18000	18000
2.	सूत्रकृतांग	2300	36000	36000
3.	स्थानांग	3750	42000	72000
4.	समवाय	1607	164000	144000
5.	व्याख्याप्रज्ञप्ति	15740	228000	288000
6.	ज्ञातृधर्मकथा	5375	556000	576000
7.	उपायकाध्ययन	812	1170000	1152000
8.	अन्तकृद्दशा	890	2328000	2304000
9.	अनुत्तरोपपादिक	192	9244000	4608000
10.	प्रश्नव्याकरण	1300	9316000	9216000
11.	विपाकसूत्र	1310	18400000	18432000
		कुल पद संख्या	41502000	36806000

चौदह पूर्वो के वस्तु प्राभृत और पदों का प्रमाण

पूर्वनाम	दि. परम्परा1	श्वे. परम्परा2	वस्तु	प्राभृत
उत्पाद	10000000	10000000	10	200
अग्रायणी	9600000	9600000	14	280
वीर्यप्रवाद	7000000	7000000	8	160
अस्तिनास्तिप्रवाद	6000000	6000000	18	360
ज्ञानप्रवाद	9999999	9999999	12	240
सत्यप्रवाद	10000006	10000006	12	240
आत्मप्रवाद	260000000	260000000	16	320
कर्मप्रवाद	18000000	18000000	20	400
प्रत्याख्यान	8400000	8400000	30	600
विद्यानुवाद	11000000	11000000	15	300
कल्याणानुवाद	260000000	260000000	10	200
प्राणावाय	130000000	15600000	10	200
क्रियाविशाल	90000000	90000000	10	200
लोकविन्दुसार	125000000	1250000	10	200
	955000005	97500000		

दिगम्बर साहित्य में भी अंगोपांगों का वर्णन मिलता है । अकलंक ने तत्त्वार्थवार्तिक में तथा वीरसेन ने धवला–जयधवला टीका में उनका उल्लेख किया है । परन्तु जैसा पीछे हम संकेत कर चुके हैं, उपलब्ध अंगोपांग साहित्य में कतिपय वे उद्धरण नहीं मिलते जिनका उल्लेख अंकलंक और वीरसेन ने किया है । पदों का परिमाण दोनों परम्पराओं में लगभग समान मिलता है ।

अंगबाह्य श्रुत के रचयिता आरातीय आचार्य रहे हैं (तत्त्वार्थ वा. 1.20.13) । पर वीरसेन ने इन्द्रभूति गौतम गणधर को अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य दोनों का कर्ता माना है (षट्खण्डगम, अनुयोगद्वार, पु. 9, पृ. 129) । उनके इस कथन में अन्तर तब दिखाई देता है जब धवला (षट्. पु. 1, पृ. 65) तथा जयधवला (क. पा. अ., 1. पृ. 83) गौतम गणधर को केवल अंगों और पूर्वों का कर्ता बतलाता है । तिलोयपण्णत्ति (1.79) में भी यही कहा है । जिनसेन ने भी अंगबाह्य ग्रन्थों का कर्तृत्व गौतम गणधर को स्वीकारा है । अनुयोगद्वार, नन्दिसूत्र तत्त्वार्थ भाष्य विशेषावश्यक भाष्य और वृहत्कल्प भाष्य में अंगबाह्य को आरातीय आचार्यकृत ही माना जाता रहा है । इस विषय में दोनों परम्परायें समान दिखाई दे रही हैं।

अंगबाह्य ग्रन्थों में पूज्यपाद ने दशवैकालिक का तथा अकलंक ने उत्तराध्ययन का उल्लेख किया है । परन्तु वीरसेन और जिनसेन ने उसके चौदह भेदों को गिनाया है – सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका । श्वेताम्बर परम्परा में दो मूल भेद हैं – आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त । आवश्यक के 6 भेद हैं जिनमें सामायिक प्रथम भेद है । अंगप्रविष्ट के बारहवें भेद दृष्टिवाद के पांच भेदों में प्रमुख हैं । चौदहपूर्व और चौदहपूर्वों में अन्तिमपूर्व है लोकबिन्दुसार । अतःश्रुत का तात्पर्य सामायिक से लेकर लोकबिन्दुसार पर्यन्त समझना चाहिए । उसमें अंग और अंगबाह्य दोनों समाविष्ट हो जाते हैं (षट्खण्डागम पु. 1, पृ. 96 ; क. पा. भा. 1 पृ. 97) । बाद में दृष्टिवाद कदाचित् अधिक कठिन होने के काण विस्मृत होता गया और अंगोपांगों की परम्परा प्रचलित हो गई ।

वर्तमान में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक केवल 45 आगमों को ही मानता है – 11 अंग, 12 उपांग, 6 छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र, 10 प्रकीर्णक, एक नन्दि और एक अनुयोगद्वार । परन्तु स्थानकवासी सम्प्रदाय मात्र बत्तीस को ही मान्यता देता है – 11 अंग, 12 उपांग, निशीथ, वृहत्कल्प, व्यवहार सूत्र, दशाश्रुत, अनुयोगद्वार, नन्दिसूत्र,

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक । आर्यरक्षितसूरि ने इन आगमों का वर्गीकरण चार अनुयोगों में किया है। 1) चरणकारणानुयोग – अंगादि, 2) धर्मकथानुयोग – ऋषिभषित आदि, 3) गणितरानुयोग – सूर्यप्रज्ञप्ति आदि, तथा 4) द्रव्यानुयोग–दृष्टिवाद आदि । दिगम्बर परम्परा भी अनुयोग विभाजन को स्वीकार करती है । वह उसे चार भागों में विभक्त करती है – 1) प्रथमानुयोग, 2) द्रव्यानुयोग, 3) चरणानुयोग, और करणानुयोग ।

7. श्रुतावतार

आवश्यकचूर्णि में कहा गया है कि श्रुतावतार तीर्थंकर से होता है । इधर षड्खण्डागम के लेखन को इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार की संज्ञा दी है । श्रुतविच्छिन्नता के बाद श्रुत की प्राप्ति निश्चित ही एक विशेष उपलब्धि कही जा सकती है । पुष्पदन्त और भूतबलि की यह रचना ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को समाप्त हुई जिसे आज भी श्रुतपंचमी के रूप में स्मरण किया जाता है । पुष्पदन्त– भूतबलि के पूर्व आचार्य गुणधर हुए हैं जो श्रुतावतार–परम्परा से अविच्छिन्न रूप से जुडे हुए हैं ।

8. आचार्य गुणधर और उनका कसायपाहुड

कसायपाहुड के रचयिता आचार्य गुणधर और उनके टीकाकार यतिवृषभ का उल्लेख किसी भी दि. जैन पट्टावली में नहीं आया और इसी कारण कतिपय विद्वानों ने उनके अस्तित्त्व को ही नकार दिया है। पर यह सही नहीं है । त्रिलोकप्रज्ञप्ति में यतिवृषभ ने ही गुणधर को उनके गुणधर सेनान्वय का स्मरण कर सम्मान प्रदान किया है (4.1476–1492) । वे वीरनिर्वाण के 683 वर्ष बाद ही आचार्य परम्परा में हुए। नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावलि में लोहाचार्य तक की परम्परा को वीर निर्वाण के 565 वर्ष में ही समाहित कर दिया है और उसके बाद 118 वर्षों में अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि को संयोजित किया है । इनका समय वीर निर्वाण के बाद 614 से 683 वर्ष के भीतर माना गया है । अतः धरसेन का समय प्रथम शताब्दी के आसपास स्थापित हो जाता है ।

जयधवला के अनुसार गुणधराचार्य द्वारा रचित गाथाऍं आचार्य परम्परा से महावाचक आर्यमंक्षु और नागहस्ती आचार्यों को प्राप्त हुईं । आचार्य वीरसेन ने इन आचार्यों के मतों का अनेक बार उल्लेख किया है। लगता है, उनके ग्रन्थ वीरसेन के सामने थे या परम्परा से उनके मत हस्तान्तरित होकर उनके पास पहुंचे थे । इनमें आर्यमंक्षु के उपदेशों को ''अपवाइज्जमाण'' और नागहस्ती के उपदेशों को ''पवाइज्जमाण'' कहा गया है । अपवाइज्जमाण कहने के पीछे कदाचित् यह कारण रहा हो कि आर्यमंक्षु मथुरा में जाकर भ्रष्ट हो गये थे ऐसी एक कथा श्वेताम्बर साहित्य में मिलती है । जो भी हो, पर दिगम्बर साहित्य में इन दोनों आचार्यों के विषय में विशेष कुछ नहीं मिलता पर श्वेताम्बर परम्परा के नन्दिसूत्र (स्थविरावली 28–30) में अज्जमंगु और अज्जनागहत्थी का उल्लेख अवश्य मिलता है । ये दोनों आचार्य कदाचित् वही हैं जिनका उल्लेख वीरसेन ने किया है । परन्तु मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार इन दोनों आचार्यों के बीच लगभग 150 वर्षों का अन्तर है जिसे दिगम्बर परम्परा स्वीकार नहीं कर सकती । इसमें यह कठिनाई होगी कि यतिवृषभ का समय भी आचार्य गुणधर के आसपास मानना पडेगा। श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य गुणधर के ही लगभग समकालीन गुणसुन्दर नामक आचार्य हुए हैं जो कदाचित् अभिन्न रहे हों।

आर्यमंगु और नागहस्ती में से आर्यमंगु दशपूर्वी थे और वे वज्रस्वामी से पूर्ववर्ती थे और नागहस्ती वज्रस्वामी के बाद हुए और वे दशपूर्वी नहीं थे । वज्रस्वामी के उत्तराधिकारी आर्यरक्षित थे जो नौ पूर्व और दशम पूर्व के 24 यविक मात्र के पाठी थे । उनके शिष्य दुर्वलिका पुष्पमित्र नौ पूर्व विस्मृत हो चुके थे । नन्दी स्थविरावली की गाथा 31–32 वीं में वाचक परम्परा के आर्य मंगू के बाद आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र और आर्यरक्षित ये चार वाचनाचार्य हुए । आचार्य देववाचक ने आर्य मंगु को श्रुतसागर का पारगामी कहकर वन्दन किया । कसायपाहुड की टीका जयधवला के अनुसार आर्यमंक्षु और आर्यनागहस्ती कसायपाहुड के चूर्णिकार आचार्य यतिवृषभ के विद्यागुरु माने गये हैं । उनसे ही यतिवृषभ को दिव्यध्वनि रूप किरण प्राप्त हुई (अनुभाग भाग 5, पृ. 388) ।

यहां यह दृष्टव्य है कि नन्दिसूत्र 28 में आर्यमंक्षु के स्थान पर आर्य मंगु शब्द का प्रयोग हुआ है। ये आर्यमंगु कषायप्राभृत के आर्यमंक्षु ही होना चाहिए जिनके पास अध्ययनकर यतिवृषभ ने चूर्णिसूत्रों की रचना की (जयधवला, 1, पृ. 87–88) । ये दोनों आचार्य निस्सन्देह श्रुतधर रहे होंगे इसीलिए उन्हें क्षमाश्रमण और महावाचक जैसे शब्दों से संमानित किया गया । ये आचार्य गुणधर के लगभग समकालीन सिद्ध होते हैं। नन्दिसूत्र की स्थविरावली में आर्यमंगु की गुरु–शिष्य परम्परा इस प्रकार दी है – आर्यसमुद्र, आर्यमंक्षु (आर्यमंगु) आर्यनन्दिल और नागहस्ती । इस परम्परा से कोई विशेष अन्तर नहीं आता । इस परम्परा में आर्यमंगु के बाद आर्यनन्दिल और उनके बाद नागहस्ती का स्मरण किया गया है । नागहस्ती को पादलिप्त का गुरु माना जाता है जो आर्यरक्षित से पूर्ववर्ती थे । नागहस्ती वाचकवंश के प्रस्थापक भी थे । वे कर्मप्रकृति में निष्णात विद्वान थे । इससे अधिक सम्भव यह है कि श्वे. परम्परा के आर्यमंगु और नागहस्ती धवला और जयधवला के आर्यमंक्षु और महावाचक नागहस्ती से अभिन्न व्यक्तित्व होना चाहिए ।

गुणधर के शिष्य आर्यमंक्षु और नागहस्ती थे । उनका उल्लेख जयधवलाटीका और श्रुतावतार में हुआ है । विशेष बात तो यह है कि वीरसेन ने गुणधर को तो मात्र वाचक कहा है जबकि आर्यमंक्षु और नागहस्ती को महावाचक, खवण और महाखवण जैसे विशेषणों से संमानित किया है । इनमें यतिवृषभ ने नागहस्ती के उपदेशों को तो पवाइज्जमाण कहा पर आर्यमंक्षु के उपदेश को अपवाइज्जमाण कहकर उनकी आलोचना की है । इस आलोचना का आधार क्या है यह स्पष्ट नहीं हो सका । नन्दिसूत्र स्थविरावली में दोनों को सम्मानास्पद माना गया है (28.30) ।

वाचक शब्द का अर्थ उपाध्याय और आचार्य तो है ही पर उसे 'पूर्ववित्' भी माना जाता है (षट्खण्डागम, पु. 14, पृ. 22) । इसका तात्पर्य है कि गुणधर पूर्ववित् थे और उनकी वाचक परम्परा भी थी । आर्यमंक्षु और नागहस्ती उनके समकालीन ही थे जो उस परम्परा से जुड़े हुए थे उन्हें गुणधर से ही कसायपाहुड की गाथाएं मिलीं ।

नागहस्ती से यतिवृषभ ने कसायपाहुड का अध्ययन किया और फिर उस पर चूर्णिसूत्र लिखा। नागहस्ती कर्मप्रकृति के विशिष्ट ज्ञाता थे । कषायप्राभृत भी कर्मप्रकृति से सम्बन्धित ग्रन्थ है । धरसेन से महाकर्मप्रकृति प्राभृत का अध्ययन कर पुष्पदन्त और भूतबलि ने षड्खण्डागम की रचना की । जिनसेन और वीरसेन ने दोनों पर क्रमशः जयधवला और धवला नामक टीकायें लिखीं । वीरसेन ने जयधवला के प्रारम्भ में ही स्पष्टतः गुणधर को कसायपाहुड का रचयिता माना है जो एक महासमुद्र के समान गंभीर और विशाल हैं । गाथासूत्रों की संक्षिप्तता और गम्भीरता के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि आचार्य गुणधर धरसेन के पूर्ववर्ती रहे होंगे । उन्होंने 16 हजार पद प्रमाण पेज्जापाहुड को मात्र 180 गाथाओं में लिख दिया । इसके अतिरिक्त गुणधर के विषय में कुछ भी नहीं मिलता । इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में भी दोनों आचार्यों के बीच पूर्वापरता के विषय में अपनी अनभिज्ञता ''न ज्ञायते'' लिखकर अवश्य सूचित की है । पर उपर्युक्त आधार पर गुणधर को धरसेन से पूर्ववर्ती माना जाना चाहिए ।

नन्दिसंघ की पट्टावली में लोहाचार्य के बाद 118 वर्षों के बीच होने वाले आचार्यों में अर्हद्बलि संघ–निर्मापक थे । उन्होंने एक संघ का नाम गुणधरान्वय रखा जो शाल्मलिमहावृक्ष के मूल से आये थे । इसका तात्पर्य यह है कि गुणधर अर्हद्बलि के पूर्व हुए थे । और धरसेन अर्हद्बलि और माघनन्दि के बाद के आचार्य थे । अतः पूर्वविद गुणधर धरसेन के पूर्ववर्ती आचार्य थे जिन्होंने कसायपाहुड की रचना की थी। धरसेन भी पूर्वविद् थे पर वे पूर्वविदों की परम्परा में नहीं आ सके । संभवतः तब तक पूर्वज्ञान की परम्परा कम हो चुकी होगी । कसायपाहुड की गाथायें परम्परागत रही हैं, मौखिक रूप से ही प्रवाहित होती रही हैं पर षट्खण्डागम को पुस्तक के रूप में ग्रथित किया गया । कसायपाहुड पांचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद के दसवें वस्तु अधिकार के तीसरे पेज्जपाहुड से उद्भूत हुआ है । संभव है, इसकी कतिपय गाथायें नागहस्तीकृत रही हों।

जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं ।
गाहाहि विवरयिं तं गुणहरभडारयं वंदे ।।6।।

गुणहरवयण विणिग्गय गाहाणत्थोवहारिओ सव्वो ।
जेणज्ज मंखुणा सो स णागहत्थी वरं देऊ ।।7।।
जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स ।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ।।8।।

आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति के अन्त में मंगलाचरण के रूप में जो गाथा दी है उसमें भी उन्होंने गणधर आचार्य को कसायपाहुड का कर्ता माना है –

पणमह–जिणवर–वसहं, गणहर–वसहं तहेव गुणहर–वसहं ।
दुसह–परीसह–वसहं, जदिवसहं धम्म–सुत्त–पाढए–वसहं ।।80।।

इस आधार पर डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने गुणधर को धरसेन से लगभग 200 वर्ष पूर्ववर्ती माना है । परन्तु पं. बालचन्द्र जी सि. शास्त्री इस मत के पक्ष में नहीं हैं । उनका कहना है कि धरसेन पेज्जदोस और महाकम्म पयडिपाहुड के कुशल जानकार थे । वे किसी भी तरह गुणधर से अल्पज्ञानी नहीं थे । बल्कि अन्य प्रकीर्णक श्रुत के भी ज्ञाता थे । जब पुष्पदन्त भूतबलि को सूत्रकार कहा गया है तो उनके गुरु धरसेन को सूत्रकार क्यों नहीं माना जा सकता है ?कसायपाहुड के समान षड्खण्डागम में भी बीजपद उपलब्ध हैं । ये बीजपद द्वादशांग श्रुत में ही संभव हैं जिसके प्ररूपक तीर्थंकरों को अर्थकर्ता कहा गया है और गणधरों को उनका व्याख्याता माना गया है । इसमें कसायपाहुड तो निश्चित ही षड्खण्डागम का पूर्ववर्ती है पर गुणधर अर्हद्बली के पूर्ववर्ती हैं यह सिद्ध नहीं होता । गुणधर नामक संघ की स्थापना भी अस्पष्ट है (षट्खण्डागम, पृ. 674) ।

कसायपाहुड में कुल मूल गाथाएँ 180 हैं जो 15 अधिकारों में विभक्त हैं (मूल 92+भाष्य गाथायें 83 + अधिकार निर्देशक 2 गाथायें) । इनके अतिरिक्त 12 गाथायें सम्बन्धज्ञापक, 6 गाथायें अद्धापरिमाण निर्देशक + 35 गाथाएँ संक्रमवृत्तिरूपक = 53 गाथायें और हैं । इस तरह कुल 233 गाथायें हैं । इसके साथ ही 12 गाथायें चूलिका रूपक हैं । ये गाथायें सूत्रात्मक हैं । उनमें कुछ ''सुत्तगाहा'' हैं, कुछ 'गाहा' हैं और कुछ 'सभासगाहा' हैं । वीरसेन और इन्द्रनन्दि ने समूची 180 गाथाओं को सूत्र गाथा माना है । शेष 53 गाथायें विवरणात्मक हैं । परन्तु यतिवृषभ ने चरित्रमोहक्षपणा नामक अधिकार में समागत सभाष्य गाथाओं को छोडकर शेष सभी को सूत्रगाथा कहा है । उन्होंने इन गाथाओं का विभाजन भी किया है – पृच्छासुत्त, वागरणसुत्त और सूचणासुत्त । इससे यह कहा जा सकता है कि कसायपाहुड की शैली प्रश्नोत्तर शैली रही है जो प्राचीन परम्परा का पोषक है ।

संपूर्ण कसायपाहुड 15 अधिकारों में विभक्त है जिसकी मूल गाथाओं की कुल संख्या 92 है । श्री पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने जैन साहित्य का इतिहास भाग 1 पृ. 27 पर इन गाथाओं का विभाजन इस प्रकार किया है –

चारित्रमोहक्षपणा की भाष्य गाथाएँ

अधिकार नाम	गाथा सं.	चारित्रमोह क्षपणा	गाथा सं.	भाष्य गाथा
1–5 अधिकार 5 अधि.	3	1 प्रस्थापक	4	(1) 5, (2) 11, (3)
6. वेदग ''	4	2 संक्रामक	4	4 गा. (4) 3=23
7 उवजोग ''	7	3 अपर्वतना	3	(1) 3, (2) 1, (3) 4=8

8 चदुट्ठाण	16	4 कृष्टिकरण	11	(1) 3, (2) 2, (3) 12,
9. वंजण	5			(4) 3, (5) 4, (6) 2 10.
सम्यक्त्व दंसणमोहक्खवणा	15			(7) 4, (8) 4, (9) 2
11. दर्शनमोहक्षपणा	5	5 कृष्टिक्षपणा	4	(1) 1, (2) 1, (3) 10
12. संयमासंयम– लब्धि और	1	6 क्षीणमोह	1	(4) 2 = 14
13. चारित्र लब्धि				86
14. चरित्रमोहोपशमना	8	7 संग्रहणी	1	भाष्यगाथा
			28	
15. चारित्रमोहक्षपणा	28		सूत्रगाथा	
	92			= 92+86=178

इन सूत्र गाथाओं को गुणधराचार्य ने ''सुत्तगाहा' नहीं, बल्कि 'सुत्तगाहा' उन्हें कहा जो विवादास्पद रही हैं । उनमें भी कुछ को 'सुत्तगाहा', कुछ को 'गाहा' और कुछ को 'समासगाहा' कहा है। चारित्रमोहक्षपणा नामक 15 वें अधिकार में कुल 28 गाथाएँ हैं उनमें से 7 को गाहा, और शेष 21 को 'समासगाहा' कहा है । सभाष्यगाथाएँ ही सूत्रगाथायें हैं । सूत्र गाथाओं का तात्पर्य है – जिनसे अनेक अर्थ सूचित हों । अनेक अर्थों की सूचना न देने वाली गाथाएं 'असूत्रगाहा' कहलाती हैं । जयधवलाकार की दृष्टि से 180 गाथायें ही सूत्रगाथाएँ हैं । मूलगाथा का अर्थ ही सूत्रगाथा है ।

यहां यह उल्लेखनीय है कि कसायपाहुड की कुल गाथाओं के लेखक के विषय में आचार्यों में मतभेद दिखाई देता है । सर्वत्र मूल 180 गाथाओं का ही उल्लेख मिलता है । शेष 53 गाथाओं का कर्ता कतिपय आचार्य नागहस्ति को मानते हैं और कुछ आचार्यों ने गुणधर को माना है । इस सन्दर्भ में यतिवृषभ का मन्तव्य चूर्णिसूत्र में दिखाई नहीं देता ।

यतिवृषभ ने इन्हीं गाथाओं पर 6000 श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे और उच्चारणाचार्य ने उच्चारण सूत्र लिखे । इसके बाद जिनसेन और वीरसेन ने प्राकृत संस्कृत मणिप्रवाल शैली में जयधवला टीका लिखी। शामकुण्डाचार्य, तुम्बुलुराचार्य आदि चिन्तकों ने इस पर कन्नड टीकाओं की रचना की ।

धवला और जयधवला टीकाकार वीरसेन के पूर्व किसी भी आचार्य को गुणधर की परम्परा की जानकारी नहीं रही । उन्होंने भी षड्खण्डागम की रचना का इतिहास देकर मात्र कषायप्राभृत सूत्र की उत्पत्ति का वर्णन किया है, परम्परा आदि का नहीं । उनके पश्चाद्वर्ती इन्द्रनन्दि ने भी इस विषय में अपनी अनभिज्ञता बताते हुए इतना ही संकेत किया कि गुणधराचार्य अंगज्ञानियों की परम्परा के बाद ही हुए हैं (श्रुतावतार 151) ।

गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापर क्रमोऽस्माभिः ।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ।।

आचार्य वीरसेन ने गुणधराचार्य को वाचक कहकर जयधवला में सम्बोधित किया है ''गुणधरवाचकेन'' (पृ. 365) । दिगम्बर परम्परा में इस शब्द का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है पर श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र ने उसका प्रयोग 'पूर्वविद्' के अर्थ में किया है (वाचकाः पूर्वविदः प्रज्ञा. वृत्ति पृ. 5) । अतः आचार्य गुणधर को 'पूर्वविद्' माना जा सकता है ।

कसायपाहुड कर्मसिद्धान्त का ग्रन्थ है । कर्म से कषाय और कषाय से कर्मबन्ध रूप संसरण की परम्परा अनादि है । कर्म मूलतः आठ हैं । उसके भेद हैं 148 जिन्हें कर्मप्रकृतियां कहा जाता है । इन कर्मों की दस अवस्थायें होती हैं ।

1.	करण	–	जीव का कर्म से बंध जाना
2.	सत्ता	–	कर्मों का अस्तित्व में रहना
3.	उदय	–	कर्म फल का यथासमय उदय में आना, फल देना ।
4.	उदीरणा	–	असमय में फल देना
5.	अपकर्षण	–	शुभ–अशुभ कर्मों के प्रभाव से स्थिति अनुभाग को कम कर देना ।
6.	उत्कर्षण	–	स्थिति–अनुभाग को बढा देना
7.	उपशम	–	अमुक समय तक कर्मों का उदय में न आना ।
8.	संक्रम	–	सजातीय कर्म रूप में परिणमा देना ।
9.	निधत्ति	–	कर्मका न उदय में आना और न अन्य कर्म रूप किया जा सकना ।
10.	निकाचन	–	कर्म का उदय, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण न होना ।

इन कर्मों में मोह प्रमुख और प्रबल कर्म है । उसके दो भेद हैं – दर्शनमोह और चारित्रमोह । दर्शनमोह में सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो पाती । चारित्र मोह का तात्पर्य है कषाय । कषाय पाहुड में मात्र मोहनीय कर्म का विवेचन हुआ है । उसी के सत्त्व, बन्ध, उदय, संक्रमण, उपशम और क्षय का विवेचन है । कर्म का प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के अनुसार संक्रमण होता है उसका उदय, क्षय, स्थिति और विपाक होता है । क्रोध, मान, माया और लोभ का विस्तृत विवेचन और उनका उपशमन और क्षपण की प्रक्रिया का कथन यहां किया गया है । इसका विशेष विवेचन मूल ग्रन्थ में देखा जा सकता है। इसी पर आचार्य यतिवृषभ ने 'कसायपाहुडचुण्णिसुत्त' नामक विशाल टीका ग्रन्थ लिखा है ।

9. कसायपाहुड और षड्खण्डागम

कषायपाहुड की विवेचन पद्धति प्रश्नात्मक और सूत्रात्मक रही है । उनके विवेचन में ग्रन्थकार को ही भाष्यगाथाएं लिखनी पडीं । प्रारम्भिक गाथाओं में अध्यायों का विभाजन और विषय वस्तु का संकेत उनकी वैज्ञानिक पद्धति का सूचक है । संसार का मुख्य कारण है – राग–द्वेष । किस नय की दृष्टि से कौन–सी कषाय रागात्मक है और कौन–सी द्वेषात्मक, इसकी चर्चा गुणधर ने नहीं की । उन्होंने मात्र प्रश्न उठा दिया। चूर्णिसूत्रकार और व्याख्याकारों ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है ।

कसाय पाहुड और षड्खण्डागम दोनों परमागम माने जाते हैं । कसायपाहुड पंचम पूर्व से संबद्ध है जबकि षड्खण्डागम की रचना दूसरे पूर्व से की गई है । प्रथम गाथासूत्रों में है तो द्वितीय गद्य सूत्रों में । इसके बावजूद इन दोनों ग्रन्थों में कहीं–कहीं मतभेद दिखाई देता है । उदाहरणार्थ चूर्णिसूत्र में दोष का उत्कृष्ट और जघन्यकाल अन्तर्मुहुर्त है पर जीवस्थान में एक समय काल बतलाया है । इसी तरह क. पा. (गा. 128) के अनुसार पहले आठ कषायों का क्षपण होता है बाद में सोलह प्रकृतियों का क्षपण होता है । धवलाकार के अनुसार यह उपदेश 'संतकम्मपाहुड' का है (ष. खं. पु. 1, पृ. 217) । ष. खं. (पु. 5 पृ. 112) में चारों कषायों का अन्तर छह मास माना गया है और इसमें पाहुड सुत्त (कषायप्राभृत) से व्यभिचार नहीं आता । दोनों में यह भेद इसलिए है कि वे आचार्य वचन है, जिनेन्द्रवचन नहीं हैं । इसलिए संतकम्मपाहुड और कसायपाहुड दोनों समकक्ष ग्रन्थ होना चाहिए ।

कषायप्राभृत में मूल सूत्रगाथाएँ पहले पृच्छासूत्र के रूप में रचित हैं, बाद में उनपर भाष्यगाथाएँ लिखी गई हैं । षड्खण्डागम में भी पहले जीवस्थान–चूलिका के प्रारम्भ में पृच्छासूत्र के रूप में पांच चूलिकाओं की रचना की गई और फिर उनपर विभाषा सूत्र लिखे गये। क. प्रा. की गाथाओं का उल्लेख षड्ख. में हुआ है। विशेषता यह है कि कषायप्राभृत गाथात्मक है जबकि षड्ख. में प्रायः गद्य का उपयोग किया गया है । वहां वह गंभीरता भी नहीं मिलती जो क.प्रा. में है । क. प्रा. 180 अथवा 233 गाथाओं में है जबकि षड्ख. का ग्रन्थप्रमाण छत्तीस हजार श्लोक है । क. प्रा. में मंगल कहीं भी नहीं किया गया है जबकि षड्ख. में जीवस्थान और वेदनाखण्ड में मंगल किया गया है । षड्ख. की चूलिका योजना क. प्रा. में नहीं मिलती और न वहां गुणस्थान और मार्गणा की भी प्ररूपणा उपलब्ध होती है।

इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य विशेषताएँ और भी दृष्टव्य हैं । क. प्रा. में स्थितिबन्ध का प्रमाण कहीं भी नहीं मिलता जबकि षड्खण्डागम के अनुसार जीव जब अन्तः कोडाकोडी प्रमाण कर्म स्थिति को बांधता है तब वह प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है । क. प्रा. में 'कर्मभूमिज' का उल्लेख आता है परन्तु षट्.ख. में निर्दिष्ट जिन केवली तीर्थंकर का उल्लेख दिखाई नहीं देता । गुणधर भट्टारक ने मौखिक परम्परा से प्राप्त पेज्जदोसपाहुड के 16000 पदप्रमाण भाग को मात्र 180 गाथाओं में रच दिया जबकि धरसेन ने उसी परम्परा से प्राप्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृत को स्वयं न रचकर उसका व्याख्यान पुष्पदन्त–भूतबली को किया जिन्होंने उसे छह खण्डों में उपसंहृत किया ।

कसाय पाहुड और षड्खण्डागम की कुछ गाथाएँ परम्परागत लगती हैं पर इन दोनों ग्रन्थों की गाथाएँ एक दूसरे के ग्रन्थों में नहीं मिलती हैं । प्रश्नात्मक शैली प्राचीनता का चिन्ह है । वैदिक और बौद्ध परम्परा में भी उसी का उपयोग हुआ है । कसायपाहुड में सम्यक्त्व अधिकार के प्रारम्भ में चार गाथाओं (91–94) द्वारा प्रश्न तो खडाकर दिया पर उसका उत्तर चूर्णिसूत्रकार ने दिया है । षड्खण्डागम में प्रश्न के साथ उत्तर भी दिया गया है । इसी तरह कसायपाहुड की गाथा 95 का ही विस्तार जीवस्थान की सम्यक्त्वोपपत्ति चूलिका (9) में किया गया है । ऐसे कतिपय और भी स्थल हैं जहां कसायपाहुड और षड्खण्डागम की विषय–वस्तु की तुलना की जा सकती है । परन्तु उन दोनों के बीच जो सैद्धान्तिक मतभेद हैं, उनसे ऐसा लगता है कि दोनों आचार्यों की अपनी–अपनी परम्परा रही है और उनमें गुणधर परम्परा पूर्ववर्ती थी ।

छक्खंडागम और कसायपाहुड चूर्णिसूत्र में निक्षेप और नय योजना का आधार समान रूप से लिया गया है पर दोनों में अन्तर भी दिखाई देता है । छक्खंडागम में निक्षेपों का विस्तार से कथन किया गया है। जबकि चूर्णिसूत्र में आवश्यकतानुसार ही निक्षेप योजना की गई है । भूतबलि के लिए विषय को विस्तार देना इसलिए आवश्यक था कि कहीं बचा–खुचा ज्ञान भी विलुप्त न हो जाये । यह भय यतिवृषभ के सामने नहीं था। इसलिए उन्होंने अपनी समासशैली का आश्रय लिया और पुनरुक्ति दोष से बचने का उपाय देखते रहे।

इन सभी कारणों से विद्वानों ने यह निश्चित किया है कि कसाय पाहुड की रचना षड्खण्डागम से पहले हुई है । आचार्य गुणधर और धरसेन की गुरु–शिष्य परम्परा का स्पष्ट उल्लेख किसी पट्टावली में नहीं मिलता पर इन्द्रनन्दी ने संघविभाजन का विवरण देते समय गुणधर नामक संघ के अस्तित्त्व की चर्चा की है । इससे इतना तो स्पष्ट है कि संघ भेद होने के पूर्व आचार्य गुणधर हुए होंगे । गुणधर के कसायपाहुड के उल्लेख श्वेताम्बर सम्प्रदाय के शतकचूर्णि, सप्ततिका चूर्णि आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं । संभव है, यह ग्रन्थ दोनों सम्प्रदायों को समान रूप से मान्य रहा हो । कतिपय और भी अन्य विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं जैसे – कसायपाहुड की चूर्णि में 'सव्वलिंगेसु च भज्जाणि' जैसे कथन, ऋजुसूत्रनय को द्रव्यार्थिकनय के रूप में मानना, कम्मपयडि का उल्लेख, वाचक परम्परा का उल्लेख आदि । ये विशेषताएँ यह कहने को बाध्य करती हैं कि कसायपाहुड एक ऐसा ग्रन्थ रहा है जो श्वेताम्बर परम्परा को भी मान्य रहा है । इसे हम यों भी कह सकते हैं कि कसायपाहुड और षड्खण्डागम संघभेद के पूर्व के ग्रन्थ हैं और श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने भी दृष्टिवाद के इन अंशों को यथावत् स्वीकार कर लिया था ।

10. कसायपाहुड और कर्मप्रकृति

कम्मपयडि (कर्मप्रकृति) 475 गाथाओं में लिखा एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें बन्धन, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, उपशामना, निधत्ति, निकाचन, उदय और सत्त्व की प्ररूपणा की गई है । यह कृति श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य शिवशर्मसूरि की है जिनका समय विक्रम की पांचवीं शती माना जाता है । यह ग्रन्थ कसाय पाहुड और षड्खण्डागम के आधार पर लिखा गया है । टीकाकार मलयगिरि के अनुसार शिवशर्म सूरि ने इसे अग्रायणी पूर्व के पंचम वस्तु के अन्तर्गत कर्मप्रकृति नामक चतुर्थ प्राभृत से लिया है । इसके संक्रमकरण नामक अधिकार में कसायपाहुड के संक्रम अनुयोग द्वार की 13 गाथाएँ (27–39) अनुक्रम से उपलब्ध होती हैं (112–124) । इसी तरह उसके सर्वोपशमना नामक प्रकरण में भी क. पा के दर्शन मोहोपशमना नामक अधिकार की चार गाथाएँ (100, 103–5) 335 से 338 तक की गाथाओं के रूप में प्राप्त

होती हैं । इन गाथाओं में थोडा–बहुत परिवर्तन भी किया गया है । कर्मप्रकृति प्राभृत से षड्खण्डागम का भी उदय हुआ है । पर पंचमपूर्व के दसवें वस्तु अधिकार के अन्तर्गत तीसरे पेज्जदोसपाहुड से प्रादुर्भूत कसायपाहुड के साथ कम्मपयडि का यह सदृश्य विचारणीय अवश्य है ।

इस भूमिका के साथ दोनों ग्रन्थों में कतिपय समानतायें और असमानतायें इस प्रकार दृष्टव्य हैं । समानतायें इस प्रकार हैं –

1) दोनों में पृच्छासूत्र और फिर उसके व्याख्यात्मक सूत्र मिलते हैं । कषाय प्राभृत में पृच्छा के रूप में मूल सूत्रगाथाएॅ रची गईं और फिर उनके स्पष्टीकरण के लिए 'विभाषा' कहकर भाष्यगाथाओं का निर्माण किया गया । षड्खण्डागम में भी जीवस्थान चूलिका के पृच्छासूत्र के अन्तर्गत प्रकृतिसमुत्कीर्तन आदि पांच चूलिकाओं को 'विभाषा' के नाम से रचा गया । कषायप्राभृत की 95–109 गाथायें यहां उद्धृत भी हुई हैं जीवस्थान चूलिका में । इसी तरह कषाय प्राभृत की गाथा 110 तथा षड्खण्डागम के सूत्र 1.98, 11.12 में भी बहुत कुछ समानता है ।

दोनों ग्रन्थों में विशेषता यह है कि षट्खण्डागम प्रायः गद्यात्मक सूत्रों में लिखा गया है जबकि कषाय प्रा. की रचना गाथाओं में हुई है। कषाय प्रा. की दुरूहता और गंभीरता भी षट्खण्डागम में दिखाई नहीं देती। कषाय– प्राभृत के समान विषय निर्देश भी षट्खण्डागम में नहीं है । इसी तरह षट्खण्डागम के समान गुणस्थान और मार्गणा का प्ररूपण, चूलिका का संयोजन, मंगल का ग्रन्थन, स्थितिबन्ध का प्रमाण, कर्मभूमिज के साथ जिन–केवल तीर्थंकर के उल्लेख आदि भी कषाय प्राभृत में नहीं मिलते । ये सभी तथ्य इसके प्रमाण हैं कि कषायप्राभृत षड्खण्डागम से पूर्ववर्ती ग्रन्थ है ।

धरसेनाचार्य द्वारा विरचित जोणिपाहुड का उल्लेख वृहट्टिप्पणिका (वि.सं. 1556) में हुआ है और उसकी रचना वी.नि.सं. 600 के बाद की मानी गई है । पूर्वों की परम्परा वी.नि.सं 345 के बाद ही विच्छिन्न होनी प्रारम्भ हुई और धीरे–धीरे अंगज्ञान भी विच्छिन्न होने लगे । यह विच्छिन्नता वी.नि.सं. 683 तक हो चुकी होगी । उसके बाद ही उसे सुरक्षित रखने की योजना बनी होगी । विक्रम का लगभग यही समय द्वितीय शताब्दी श्वेताम्बरीय पट्टावली के अनुसार नागहस्ति का भी आता है । गुणधर के द्वारा रचित कसायपाहुड की प्रति आर्यमंक्षु और नागहस्ति को प्राप्त हुई थी । अतः गुणधर का समय इसके पूर्व ही होना चाहिए ।

धरसेन और नागहस्ति, दोनों कर्मप्रकृतिप्राभृत के ज्ञाता थे । धरसेन ने उसका ज्ञान पुष्पदन्त–भूतबलि को दिया जिन्होंने उसके आधार पर षड्खण्डागम की रचना की । उसके बाद ही कर्म प्रकृतिप्राभृत विच्छिन्न हो गया । इसके उल्लेख यतिवृषभ ने अपने चूर्णिसूत्रों में 'एसा कम्मपयडीसु' लिखकर किया है। यतिवृषभ को नागहस्ति से कषायप्राभृत का ज्ञान प्राप्त हुआ था । अतः ये सभी आचार्य लगभग समकालीन रहे हैं और गुणधर उनमें पूर्ववर्ती रहे होंगे । ये गुणधर आचार्य अर्हद्बलि के पूर्ववर्ती होना चाहिए क्योंकि उन्होंने जैन संघों की रचना की थी । श्रुतावतार के अनुसार जो मुनि शाल्मलि महावृक्ष के मूल से आये थे उन्हें 'गुणधर' संज्ञा दी और कुछ को 'गुप्त' नाम दिया । अतः यह स्पष्ट है कि गुणधर का समय नन्दिसंघ की पट्टावलि के अनुसार लोहाचार्य के बाद 118 वर्ष के बीच होना चाहिए ।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि वीरसेन ने गुणधर को तो वाचक कहा पर धरसेन को वाचक नहीं कहा । वाचक का अर्थ होता है पूर्वविद् । धरसेन पूर्वविद् होते हुए भी पूर्वविदों की परम्परा में नहीं थे । वीरसेन ने धवला के प्रारम्भ में धरसेन को अष्टांग महानिमित्त ज्ञानी तो कहा पर पूर्वविद् नहीं माना (षड्. खं. भा. 1, पृ. 67) । हां, उन्होंने उन्हें महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का ज्ञाता अवश्य कहा (षड्. पृ. 9, पृ. 53)। जयधवला के मंगलाचरण में यह स्पष्टतः कहा गया है कि गुणधर ने कषायप्राभृत का व्याख्यान गाथाओं द्वारा किया जो अपने आप में एक महासमुद्र है और जिसके ज्ञाता आचार्य गुणधर हैं ।

धरसेन के विषय में वीरसेन ने ऐसा कुछ नहीं लिखा । संभव है, गुणधर के समय तक पूर्वों का विच्छेद पूरी तरह से न हुआ हो पर धरसेन के समय वह हो गया हो । पुष्पदन्त–भूतबली ने धरसेन के चरणों में बैठकर उसका अध्ययन किया और षड्खण्डागम लिखा पर गुणधर ने तो स्वयं ही 233 गाथाओं में कषायप्राभृत की रचना की जो आर्यमंक्षु और नागहस्ति को प्राप्त हुआ और उनके पादमूल में रहकर यतिवृषभ ने फिर उस पर चूर्णिसूत्र लिखे (क.पा.भा. 1, गा. 1 पृ. 88) । इन्द्रनन्दि ने भी इसका समर्थन अपने श्रुतावतार में किया है । इससे यह अनुमान लगाना सहज हो जाता है कि कषायपाहुड के गाथासूत्र मौखिक रूप से ही चलते रहे जबकि षड्खण्डागम के सूत्र पुस्तकारूढ हो गये । अर्थात् पुस्तकारूढ होने की परम्परा धरसेन के समय प्रचलित हुई, गुणधर के समय नहीं । इन सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुणधर धरसेन के पूर्ववर्ती आचार्य थे । धरसेन के बाद ही श्रुतपंचमी पर्व की परम्परा प्रारम्भ हुई।

11. कसायपाहुड और खवगसेढी तथा ठिइबंध

श्री गुणरत्नविजय ने कषायप्राभृत आदि प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर ''खवगसेढी'' (क्षपकश्रेणि) नामक एक छोटे से प्राभृत ग्रन्थ की रचना की है जिसमें 271 गाथायें हैं तथा उस पर 17250 श्लोक प्रमाण वृत्ति भी लिखी है । इसी तरह ''ठिइ–बंध'' नामक एक अन्य प्राकृत ग्रन्थ मिलता है जिसे वीरशेखरविजय ने 876 गाथाओं में लिखा है । ये दोनों ग्रन्थ टीका सहित भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति, पिण्डवाडा से सन् 1966 में प्रकाशित हुए हैं ।

खवगसेढी की प्रस्तावना में मुनि हेमचन्द्रविजयजी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि, दोनों श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध हैं । श्री पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने उनके मनगढन्त तर्कों का क्रमबद्ध उत्तर दिया है और यह स्पष्ट किया है कि कषायप्राभृत मूलतः दिगम्बर परम्परा का आगम ग्रन्थ है जिसके आधार पर उत्तरकालीन कर्मसाहित्य लिखा गया है । तदनुसार हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं ।

1) कषायप्राभृत में मूल 180 गाथाएॅ हैं । शेष 53 गाथाओं को प्रक्षिप्त होने की संभावना व्यक्त की गई है जो सही नहीं है । यतिवृषभ के चूर्णिसूत्रों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उनके समक्ष ये 53 सूत्र गाथाएॅ भी रही हैं और उन्होंने उनपर चूर्णिसूत्रों की रचना की है । उदाहरण के तौर पर प्रथम सूत्र गाथा ''पुव्वम्मि पंचमम्मि दु'' ग्रन्थ का नाम निर्देश करती है । उसपर ''णाणप्पवादस्स पुव्वस्स'' आदि चूर्णिसूत्र है । इसे यदि मूलगाथा स्वीकार न किया जाये तो फिर नाम निर्देश करने वाली गाथा कहां मिलेगी ?नं. 13 की गाथा से वह कार्य निकाला नहीं जा सकता क्योंकि नामोल्लेखात्मक चूर्णिसूत्र तभी सही होगा जब मूल गाथा वैसी रही हो ।

दूसरी गाथा 'गाहासदे असीदि' से कषायप्राभृत की कुल 180 सूत्रगाथाओं की रचना का संकेत मिलता है और उसके 15 अर्थाधिकारों का विभाजन भी । आगे की क्र. 3 से लेकर 12 वीं तक सूत्रगाथायें भी मूल सिद्ध हो जाती हैं, जैसा कहा भी है ''वोच्छामि सुत्तगाहा'' आदि । इसी प्रकार संक्रम अर्थाधिकार की ''अट्ठावीस'' इत्यादि 35 सूत्रगाथाएॅ भी मूल कषायप्राभृत का अभिन्न अंग हैं । उनपर यतिवृषभ ने चूर्णिसूत्र भी लिखे हैं । शेष 48 से लेकर 53 वीं सूत्र गाथा तक 6 सूत्र गाथायें भी मूल कषायप्राभृत की ही सिद्ध होती हैं । इनमें अल्पबहुत्व की सूचना दी गई है । उपशमना–क्षपणा प्रकरण आदि पर भी दृष्टिपात करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इन सूत्र गाथाओं की रचना आचार्य गुणधर ने ही की है ।

इस प्रकार 53 गाथायें प्रक्षिप्त नहीं मानी जा सकती हैं । आचार्य वीरसेन ने भी गाथाओं के संख्या विषयक मतभेद को दूर किया है ।

2) जहां तक कषायप्राभृत और उसके चूर्णिसूत्र का प्रश्न है वे दिगम्बर सम्प्रदाय के ही ग्रन्थ हैं । वे दिगम्बर ज्ञान भण्डार में उपलब्ध हुए हैं इसलिए नहीं, बल्कि इसलिए कि उनमें 1) शब्दप्रयोग आदि का अपना वैशिष्ट्य है । श्वेताम्बर ग्रन्थ सप्ततिकाचूर्णि, कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह आदि ग्रन्थों में जिस अर्थ में 'दलिय'

शब्द का प्रयोग हुआ है उसी अर्थ में दिगम्बर आचार्यों द्वारा कषायप्राभृत आदि ग्रन्थों में 'पदेसग्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है (सप्ततिका चूर्णि, पृ. 66 अ. ; पंचसंग्रह उद्वर्तनापवर्तनाकरण; कर्मप्रकृति उपशमनाकरण पत्र 17; कषायप्राभृत मूल गाथा 170; चूर्णिसूत्र पृ. 862; षड्खण्डागम धवला पु. 6, पृ. 379) ।

इसी तरह श्वेताम्बर आचार्यों ने कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह में 'अवरित' के लिए 'अजय' या 'अजत' शब्द का प्रयोग किया है (उपशम. करण, 27) पर दिगम्बर आचार्यों ने इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया है । इसी तरह वरिसवर, उव्वलण आदि शब्दों का प्रयोग श्वेताम्बर परम्परा के कार्मिक ग्रन्थों में ही मिलता है, दिगम्बर ग्रन्थों में नहीं ।

2) दोनों परम्पराओं में पदार्थ भेद हैं । उदाहरणार्थ (क) मिश्रगुण स्थान में सम्यक्त्व प्रकृति भजनीय है (पंचसंग्रह, 135; कर्मप्रकृतिचूर्णि, सत्ता पृ. 35), (ख) संज्वलन क्रोधादि का जघन्य प्रदेशसंक्रम अन्तिम समयप्रबद्ध का अन्यत्र संक्रम करते हुए क्षपक के अन्तिम समय में सर्वसंक्रम से होता है (श्वे. पंचसंग्रह, 119) । (ग) प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि के, सम्यक्त्व प्राप्ति के समय मिथ्यात्व के तीन पुंज होने पर एक आवलि काल तक सम्यग्मिथ्यात्व का सम्यक्त्व में संक्रम नहीं होता । (पंचसंग्रह, 11; प्रकृति सं. पत्र 10) । (घ) पुरुषभेद की पतद्ग्रहता कब नष्ट होती है इसका विवरण कर्मप्रकृति चूर्णि के ही अनुसार है । (च) कषायप्राभृत चूर्णि में मोहनीय की मात्र दो प्रकृतियां उद्वेलना प्रकृतियों के रूप में स्वीकारी गई हैं – सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति । किन्तु पंचसंग्रह और कर्मप्रकृति में मोहनीय की उद्वेलना प्रकृतियों की संख्या 27 है – दर्शनमोहनीय 3, लोभसंज्वलन को छोडकर 15 कषाय और 9 नो कषाय।

3) ''सव्वलिंगेसु भज्जाणि'' सूत्र का सही अर्थ है कि अतीत में सभी लिंगों में बंधा हुआ कर्म क्षपक की सत्ता में विकल्प से होता है । इसका अर्थ यह निकालना कि अन्य तापसादि के वेश में रहने वाला जीव क्षपक हो सकता है, गलत होगा । क्योंकि वर्तमान में जो क्षपक है उसके अतीत काल में कर्मबन्ध के समय कौन–से लिंग में बांधा गया कर्म क्षपक के वर्तमान की सत्ता में नियम से होता है या विकल्प से होता है?इसी शंका के समाधान के रूप में कथन किया गया है कि 'विकल्प' से होता है । इस कथन से यह कहां फलित होता है कि वर्तमान में वह क्षपक किसी भी वेश में हो सकता है । उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए जयधवला टीकाकार ने 'णिग्गंथवदिरित्तसेसाणं' लिखकर 'निर्ग्रन्थ ही होता है' यह स्पष्ट कर दिया है। अतः निर्ग्रन्थ ही क्षपक हो सकता है, अन्य नहीं ।

4) इसी तरह कषायप्राभृत चूर्णि में सर्वत्र ऋजुसूत्र नय का समावेश पर्यायार्थिकनय में ही किया गया है, द्रव्यार्थिक में नहीं ।

इस प्रकार गुणधर आचार्य धरसेन के पूर्ववर्ती आचार्य थे और धरसेन की अपेक्षा अधिक ज्ञानी थे। वे पंचम पूर्वगत पेज्जदोस पाहुड और महाकम्मपयडिपाहुड के ज्ञाता थे, पर धरसेन नहीं । अतः उन्हें दिगम्बर परम्परा में प्रथम श्रुतकार कहा जा सकता है । अर्हद्बली या गुप्तिगुप्त द्वारा स्थापित संघों में एक संघ का नाम गुणधर था । अतः गुणधर अर्हद्बली के पूर्ववर्ती होना चाहिए । प्राकृत पट्टावली में अर्हद्बली का समय वी. नि. सं. 565 (ई. सन् 38) है और धरसेन अर्हद्बली के समसामयिक थे । गुणधर संघ को प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए सौ वर्ष लगे होंगे । अतः गुणधर का समय ई. पू. द्वितीय शताब्दी माना जा सकता है । वे धरसेन से लगभग 200 वर्ष पूर्व हुए होंगे । आचार्य गुणधर ने अपना ग्रन्थ कसायपाहुड आचार्य नागहस्ति और आर्यमंक्षु को पढाने के उद्देश्य से किया था । अतः इनका समय ई. पू. लगभग प्रथम शताब्दी माना जा सकता है । अर्द्वद्बली या गुप्तिगुप्त अंगपूर्वों के एकदेशपाठी आरातीय आचार्यों के बाद हुए हैं । उन्हीं ने यति सम्मेलन में आये हुए मुनियों में से पुष्पदन्त भूतबली को आचार्य धरसेन के पास अध्ययनार्थ भेजा था ।

12. कसायपाहुड की टीकाएँ

इन्द्रनन्दि श्रुतावतार के अनुसार नागहस्ती और आर्यमंक्षु कसायपाहुड का अध्ययन कर उस पर से यतिवृषभ ने 6000 प्रमाण चूर्णिसूत्र रचे, यतिवृषभ से उनका अध्ययनकर उच्चारणाचार्य ने उनपर 12000

प्रमाण उच्चारणा सूत्रों की रचना की । गुरु परम्परा से कसायपाहुड और षड्खण्डागम प्राप्त कर आचार्य कुन्दकुन्द ने षड्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 12000 श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक टीका लिखी । इसके बाद शामकुण्ड आचार्य ने महाबन्ध को छोडकर चतुर्थ और पंचम खण्डों पर 12000 श्लोक प्रमाण संस्कृत और कन्नड भाषा मिश्रित शैली में टीका लिखी । उसके बाद आचार्य तुम्बलूर ने षड्खण्डागम के प्रथम पांच खण्डों पर तथा कसायपाहुड पर कन्नड भाषा में 84000 श्लोक प्रमाण चूडामणि नामक व्याख्या लिखी । इसके बाद समन्तभद्राचार्य ने भी षड्खण्डागम के प्रथम पांच खण्डों पर 48000 श्लोक प्रमाण संस्कृत टीका लिखी। महाबन्ध पर किसी भी आचार्य ने टीका नहीं लिखी । यही क्रम शुभनन्दि और रविनन्दि मुनि के साथ रहा। उन्होंने गुरु परम्परा से उसका अध्ययन किया और उनसे वप्पदेव ने अध्ययनकर षड्खण्डागम के प्रथम पांच खण्डों पर व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक टीका लिखी और कसायप्राभृत पर भी टीका लिखी ।

इसके बाद चित्रकूट निवासी एलाचार्य से सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययनकर वीरसेन स्वामी ने वाटग्राम में व्याख्याप्रज्ञप्ति के आधार पर षड्खण्डागम पर 72000 श्लोक प्रमाण धवलाटीका की रचना की । तथा कसायप्राभृत की चार विभक्तियों पर 20000 श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखी । वीरसेन का अवशिष्ट कार्य फिर उनके शिष्य जिनसेन ने कषायप्राभृत के शेष भाग पर 40000 श्लोक प्रमाण टीका लिखकर पूरा किया । 60000 श्लोक प्रमाण ये दोनों टीकाएँ संस्कृत–प्राकृत मिश्रित भाषा में लिखी गईं ।

उच्चारणा वृत्ति का उल्लेख जयधवला में अनेक बार आया है । यतिवृषभ ने जिन विषयों को छोड दिया था उन पर विशेष रूप से इस वृत्ति में प्रकाश डाला गया है । एक अन्य मूलुच्चारणा वृत्ति का भी उल्लेख आता है । संभवतः यह वृत्ति उच्चारणा वृत्ति के पहले लिखी गई हो । वप्पदेवाचार्य की भी एक उच्चारणा वृत्ति थी जिसका उल्लेख इन्द्रनन्दि श्रुतावतार तथा जयधवला में हुआ है । व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका षड्खण्डागम पर लिखी गई होगी । वीरसेन के 'अम्हेहि लिहिदुच्चारणा' जैसे कथन से यह संभावना बलवती हो जाती है कि वीरसेन ने भी कोई स्वतन्त्र उच्चारणा वृत्ति कसायपाहुड पर लिखी होगी । उच्चारणावृत्ति की यह लम्बी परम्परा यही संकेत करती है ।

उच्चारणावृत्ति – गाथासूत्रों के द्वारा सूचित अर्थ के उच्चारण करने की विधि और व्याख्यान करने का प्रकार बतानेवाले आचार्य को उच्चारणाचार्य व्याख्यानाचार्य या वाचक कहा जाता था । कसायपाहुड के सूत्र अत्यन्त गंभीर और अनेकार्थ सूचक हैं । यतिवृषभाचार्य ने यथासम्भव उन अर्थों को उद्घाटित किया है । प्रारम्भ में कुछ संक्षिप्त वर्णनकर विशेष वर्णन करने के लिए उन्होंने समर्पण सूत्र का नियोजन कर उच्चारणाचार्यों को इसकी सूचना दे दी । बाद में जब धारणाशक्ति जैसे जैसे कम होती गई, उच्चारण पूर्वक प्राप्त उस अर्थ को लिपिबद्ध करने की आवश्यकता का भी अनुभव होने लगा । चूंकि ये अर्थ ऐसे लिपिबद्ध करने वाले आचार्यों को गुरु परम्परा से प्राप्त हुए थे इसलिए उन्हें उच्चारणाचार्य कहा गया और उनके द्वारा लिखित वृत्ति को उच्चारणावृत्ति माना गया ।

आचार्य वीरसेन ने इस प्रकार की अनेक उच्चरणा वृत्तियों का उल्लेख किया है, जैसे मूल–उच्चारणा, लिखित उच्चारणा, वप्पदेवाचार्य–लिखित उच्चारणा और स्वलिखित उच्चारणा । इनमें प्राचीनतम उच्चारणावृत्ति को मूल–उच्चारणा कहा गया । धीरे–धीरे उत्तरकाल में लिखित उच्चारणाओं ने उनका स्थान ले लिया । लिखित रूपों के आने पर उनमें मतभेद होना स्वाभाविक जिसका संकेत जय धवलाकार ने यत्र–तत्र किया ही है । कसायपाहुड के प्रस्तुत चूर्णिसूत्रों पर रचित उच्चारणावृत्ति का प्रमाण बारह हजार श्लोक प्रमाण था। दुर्भाग्य से आज वह अनुपलब्ध है । परन्तु जयधवला में उसके उद्धरण अवश्य मिलते हैं ।

शामकुण्डाचार्य ने कसायपाहुड पर पद्धति टीका लिखी । वीरसेन ने टीका विधा पर प्रकाश डालते हुए इसे स्पष्ट किया है । उन्होंने लिखा है कि वृत्तिसूत्र वह है जिसमें सूत्र के सभी अर्थों का संग्रह किया गया हो । ऐसे वृत्तिसूत्र के विवरण को टीका कहा जाता है । वृत्तिसूत्रों के विषम पदों का जिसमें विश्लेषण हो वह पंजिका कहलाती है । इसी तरह सूत्र तथा उसकी वृत्ति के विवरण को पद्धति कहा जाता है । शामकुण्डाचार्य

की यह पद्धति टीका गाथा सूत्रों और चूर्णिसूत्रों पर रही होगी । तुम्बुलाचार्यकृत चूडामणि टीका भी पद्धति जैसी ही प्रतीत होती है । भट्टाकलंक ने अपने कर्नाटक शब्दानुशासन में इसी का उल्लेख किया है। राजावलिकथे ने भी इसी का संकेत किया है । इनके अतिरिक्त चिरन्तन आदि अन्य टीकाओं का उल्लेख भी वीरसेन ने यथास्थान किया है ।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि तुम्बूलूराचार्य ने छठवें खण्ड पर सात हजार श्लोक प्रमाण पं□जका लिखी जिसकी भाषा प्राकृत थी । इसका उल्लेख धवला व जयधवला में नहीं आता पर धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों के प्रशस्तिसंग्रह में इस पंजिका का विवरण दिया हुआ है – वोच्छामि संतकम्मे पंजियरूवेण विवरणं सुमहत्थं। इसमें शेष निबन्धनादि 18 अनुयोगों का एक सुन्दर विवरण है । मोहनीय की अपेक्षा इसे कषायप्राभृत भी कहा गया है । वीरसेनाचार्य द्वारा रचित 18 अनुयोगद्वारों को सत्कर्म कहा गया है । उसी सत्कर्म पर यह विवरण लिखा गया है । इसमें निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम और उदय इन चार अनुयोगों द्वारों के दुर्बोध स्थलों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है ।

डॉ. हीरालालजी ने षड्खण्डागम और सत्कर्मप्राभृत को एक ही माना है । परन्तु सत्कर्म प्ररूपणा की टीका में संतकम्मपाहुड और कसायपाहुड के उपदेशों में जिस तरह भेद मिलता है उसी तरह षड्खण्डागम के वेदनाखण्ड आदि में निर्दिष्ट स्वामित्व आदि के कथन का मेल संतकम्मपाहुड से नहीं मिलता है । अतः ये दोनो ग्रन्थ अलग–अलग होना चाहिए । संतकम्मपाहुड में सत्ता रूप से स्थित कर्म का कथन किया गया है। चौबीस अनुयोग द्वारों में से जिन में सत्ता रूप से स्थित कर्म पुद्गलों का कथन है वे सब संतकम्मपाहुड के अन्तर्गत आते हैं । सभी चौबीस अनुयोग द्वारों को महाकर्मप्रकृति प्राभृत कहा जाता है । महाबन्ध भी इसी के अन्तर्गत आता है । परन्तु संतकम्मपाहुड में महाबन्ध का अन्तर्भाव नहीं होता । इसलिए यह मानना चाहिए कि संतकम्मपाहुड महाकर्मप्रकृति के अन्तर्गत है । यह षड्खण्डागम का दूसरा भाग है ।

अब हम कसायपाहुड और उसके चुण्णिसुत्त के रचयिता तथा उसके विषय पर एक विहंगावलोकन करेंगे ।

13. यतिवृषभ का समय और उनकी कृतियां

आचार्य यतिवृषभ की दो ही कृतियां मिलती हैं – कसायपाहुड चूर्णिसूत्र और तिलोयपण्णत्ति । चूर्णिसूत्र में तो स्वयं के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा पर तिलोयपण्णत्ति में आचार्य ने स्वयं ही अपने ग्रन्थ के अन्त में निम्न लिखित गाथायें लिखी हैं –

पणमह जिणवर–वसहं, गणहरवसहं तहेव गुणहरवसहं ।
दुसह–परीसह–वसहं, जदिवसहं धम्मसुत्त पाढए वसहं ।।
चुण्णसरूवं अट्ठं, कर पदम–पमाण–किंजत्तं ।
अट्ठसहस्स–पमाणं, तिलोयपण्णत्त–णामाए ।।

इसमें आचार्य यतिवृषभ ने स्वयं यह कहा है कि जिनवर ऋषभ को, गुणों में श्रेष्ठ गणधर वृषभ को तथा दुस्सह परीषहों को सहन करने वाले एवं धर्म–सूत्र के पाठकों में श्रेष्ठ यतिवृषभ को नमस्कार करो। आठ हजार पद प्रमाण चूर्णिस्वरूप के तुल्य आठ हजार श्लोक प्रमाण यह त्रिलोकप्रज्ञप्ति महान् ग्रन्थ मेरे द्वारा कहा–रचा गया है ।

इन पद्यों में दो तथ्य सामने आते हैं – 1) पहला तो यह कि आचार्य यतिवृषभ ने स्वयं को नमस्कार करने के लिए कहा है और 2) दूसरा कि उन्होंने चूर्णि के समान आठ हजार श्लोक प्रमाण यह त्रिलोकप्रज्ञप्ति रची ।

यहां यह बात तर्क संगत लग सकती है कि यतिवृषभ स्वयं के लिए नमस्कार करने की प्रेरणा दे रहे हैं, यह उचित नहीं है । परन्तु तीर्थंकर ऋषभ देव और गणधर ऋषभ के साथ स्वयं को जोड देना यह वस्तुतः

अभिमान नहीं बल्कि उनकी विद्वत्ता का प्रमाण है जिसने आठ हजार श्लोक प्रमाण त्रिलोकप्रज्ञप्ति और कसायपाहुड चूर्णिसूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं । यहां अनुप्रासालंकार तो है ही, पर इन सभी को 'जदिवसहं' शब्द का विशेषण मान लिया जाये तो कोई समस्या नहीं उठती । उन्होंने इस गाथा में स्वयं को आचार्य गुणधर के समीप बैठाया है । साथ ही स्वयं को दुस्सह परीषहों के विजेता और धर्मसूत्र के पाठकों में श्रेष्ठ बताया है । यही गाथा जयधवला टीका के सम्यक्त्व अधिकार के प्रारम्भ में भी उपलब्ध होती है । इससे आचार्य वीरसेन के मन में आचार्य गुणधर और यतिवृषभ के प्रति श्रद्धा और भक्ति प्रगट होती है । जयधवला की उत्थानिका में भी ऐसा ही प्रसंग देखने में आता है । ऐसा ही एक अन्य उल्लेख कसायपाहुड भाग 5, पृ. 388 से प्रस्तुत किया जा सकता है जहां वीरसेन ने यतिवृषभ के वचनों को तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि के साथ प्रस्थापित किया है । जयधवला टीका के प्रारम्भ में वीरसेन ने यतिवृषभ की जो स्तुति की है वह विशेष दृष्टव्य है –

जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी विणागहत्थिस्स ।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ।। गाथा 8

यह उल्लेख यतिवृषभाचार्य के समय को निश्चित करने की दृष्टि से बडा महत्त्वपूर्ण है । इसमें वीरसेन ने उन्हें आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्ती का शिष्य बताया और यह कहा कि यह परम्परा आचार्य गुणधर से समाप्त हुई है । धर्मसूत्र का सन्दर्भ भी यहां अंगों और पूर्वों से रहा होगा । आचार्य यतिवृषभ ने 14 वें अधिकार के सूत्र 304 में 'एसा कम्मपयडीसु' में महाकर्म प्रकृतिप्राभृत का और 'एसा कम्मपवादे' में कर्मप्रवाद का ही उल्लेख किया होना चाहिए । कर्मप्रवाद आठवें पूर्व का नाम है और कर्मप्रकृति दूसरे पूर्व के पंचम वस्तु–अधिकार के अन्तर्गत चतुर्थ प्राभृत का नाम है । अतः यह माना जाना युक्तिसंगत लगता है कि आचार्य यतिवृषभ आचार्य नागहस्ती के समकालीन थे । गुणधर ने कसायपाहुड नागहस्ती को दिया और नागहस्ती से उसे यतिवृषभ ने पढा ।

यतिवृषभ के ही ज्यष्ठ समकालीन आचार्य कुन्दकुन्द को होना चाहिए । त्रिलोकप्रज्ञप्ति की कुछ गाथाऍं कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी उल्लिखित हुई हैं । ये गाथाऍं परम्परागत एक ही मूल स्रोत से आयी होगीं क्योंकि उनका उल्लेख दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों में समान रूप से आता हुआ दिखाई देता हैं।

आचार्य यतिवृषभ निश्चित ही कुशाग्रप्रतिभा के धनी थे । उत्तरकाल में उनका उल्लेख दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने किया है । उदाहरण के लिए पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि में यतिवृषभ का उल्लेख किया है – अथवा येषां मते सासादन – एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादशभागा न दत्ता'' (सर्वार्थ सिद्धि, 1, पृ. 37) । यह मत यतिवृषभ का रहा है जो कसायपाहुड के 14 वें अधिकार के सूत्र 544 में आया है । इसी का उल्लेख आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अपने लब्धिसार–क्षपणसार की गाथा सं. 346 में भी निम्न प्रकार से किया है –

जदि मरदि सासणो सो णिरय–तिरिक्खं णरं ण गच्छेदि ।
णियमा देवं गच्छदि जइवसहमुणिंदवयणेणं ।।346।।

इसी तरह जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने भी अपने विशेषावश्यक भाष्य में यतिवृषभ के आदेश कषाय विषयक मत का उल्लेख किया है – ''आदेसकसाएण जहा चित्तकम्मे लिहिदो को रुसिदो तिवलिद णिडालो भिउडिं काऊण'' (पेज्जदोसविहत्ती, 1, सूत्र 59) । इसे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में 'केइ' कहकर उल्लिखित किया है – आएसओ कसाओ..... (2981) । विशेषावश्यक की रचना शक सं. 531 (वि. सं. 666) में हुई ।

पूज्यपाद और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के उल्लेख यतिवृषभ के समय की उत्तरावधि है जो उनकी लोकप्रियता का प्रमाण है । उनका समय तो वस्तुतः आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्व और भूतबली के बाद होना

चाहिए । तिलोयपण्णत्ति में प्रक्षिप्त गाथाऍ बहुत आ गई हैं जो उसकी लोकप्रियता का प्रमाण तो है ही, साथ ही उसके समय के निर्धाण में बाधक भी बन गई हैं । पर यह संभव है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में कतिपय गाथायें त्रिलोकप्रज्ञप्ति से आयी हों या वे त्रिलोकप्रज्ञप्ति में प्रक्षिप्त रही हों । अतः उन्हें बाधक नहीं मानना चाहिए । इस प्रकार कुल मिलाकर हम यतिवृषभ का समय ई. सन् की प्रथम – द्वितीय शताब्दी निश्चित कर सकते हैं ।

कसाय पाहुड का उपयोग आचार्य भूतबलि ने अपने महाबन्ध में बन्ध के प्रसंग में, शिवशर्म ने अपनी कम्मपयडी में बन्ध–संक्रमण और उदय–उदीरणा के प्रसंग में तथा नेमिचन्द्र ने अपने लब्धिसार – क्षपणसार में देशसंयम संयमलब्धि तथा क्षपणा के प्रसंग में किया है । अन्य अधिकारों का उपयोग इसलिए नहीं हो सका कि तब तक अधिकांश ज्ञान विलुप्त हो गया था । फिर भी उत्तरकालीन आचार्यों ने उस पर टीकायें, चूर्णियां आदि लिखकर अपना सम्मान प्रगट किया है । यतिवृषभ की चूर्णि और वीरसेन की जयधवला टीका इसी तरह की कृतियां हैं ।

इसी तरह नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के लब्धिसारक्षपणसार में तो कसायपाहुड की अनेक गाथाऍ शब्द साम्य और भावसाम्य के साथ उपहृत कर ली गई हैं । माधवचन्द्र त्रैविद्य का संस्कृत में लिखे क्षपणसार' ग्रन्थ भी इसी शैली का उदाहरण है । इसमें चूर्णिसूत्र का उपयोग अधिक किया गया है । श्री चन्द्रर्षि महत्तर ने तो अपने पंचसंग्रह में शतक, सप्ततिका, कषायप्राभृत, सत्कर्मप्राभृत तथा कर्मप्रकृति नामक पांचों ग्रन्थों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है जिसका उल्लेख उन्होंने तथा उनके टीकाकार मलयगिरि ने स्पष्ट रूप से किया है । अधिक सम्भव यह है कि ये पांचों ग्रन्थ मूल रूप से आचार्य यतिवृषभ द्वारा ही रचित हों ।

जहां तक षड्खण्डागम का प्रश्न है वह कसायपाहुड चूर्णिसूत्र के लिए उपजीव्य रहा है । यतिवृषभ ने उसका उपयोग अपने चूर्णिसूत्र में भली प्रकार से किया है । प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश विभक्तियों के स्वामित्व आदि अनुयोग द्वारों का वर्णन षड्खण्डागम के बन्धस्वामित्व नामक दूसरे और वेदना नामक चौथे खण्ड पर आधारित है । वीरसेन ने एक स्थान पर तो षड्खण्डागम को चूर्णिसूत्र के रूप में उल्लिखित किया है ।

तिलोयपण्णत्ति के ''लोयविणिच्छय–गंथे, लोयविभागम्मि सव्वसिद्धाणं'' (9.10) में लोकविनिश्चय और लोकविभाग ग्रन्थों का उल्लेख आया है । नियमसार की गाथा क्र. 17 में ''एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं'' में लोकविभाग के लिए बहुवचन का प्रयोग हुआ है । यह बहुवचन का प्रयोग संकेत दे रहा है कि लोकविभाग के नाम के अनेक ग्रन्थ यतिवृषभ के समय रहे होंगे । उन्होंने यहां जिस ग्रन्थ का उल्लेख किया है वह सर्वनन्दि का लोकविभाग नहीं होगा । किसी और प्राचीन लोक विभाग का उल्लेख होना चाहिए । इससे यतिवृषभ के समय निर्धारण में कोई बाधा नहीं आती । उनका समय ई. सन् की प्रथम–द्वितीय शताब्दी ही अधिक युक्तिसंगत दिखाई देता है ।

पीछे हमने यतिवृषभ की कृतियों में कसायपाहुड चूर्णिसूत्र तथा तिलोयपण्णत्ति का उल्लेख किया है। तिलोयपण्णत्ति की अन्तिम गाथा ''चूण्णिसरूवछक्करणसरूपपमाण होइ किं जं तं'' से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य यतिवृषभ ने 'छक्करणसरूव' नामक कोई एक और ग्रन्थ रचा होगा जो करण सिद्धान्त को स्पष्ट करता हो । ऐसा कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है । हो सकता है, इसमें गणित सूत्रों का समावेश रहा हो । यह पं. जुगल किशोर मुख्तार सा. का मन्तव्य रहा है ।

पं. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री ने व्याकरणिक नियमों का प्रयोग कर इस 'छक्करण' गाथा के अट्ठकरण मानकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यतिवृषभ ने अट्ठकरण रूप कर्मप्रकृति की भी चूर्णि रची थी । पर इस विचार को पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री स्वीकार नहीं करते । उनका कहना है कि आठ करणों के सिवाय उदय और सत्ता का भी कथन किया गया है । अतः ग्रन्थ का नाम 'अट्ठकरणसरूव' कैसे हो सकता है ?

कर्मप्रकृति नामक एक स्वतन्त्र रचना परम्परा से शिवशर्म सूरि कृत मानी जाती है । उनका एक और ग्रन्थ शतक का उल्लेख हुआ है जिनपर चूर्णिसूत्र भी लिखे गये हैं । शिवशर्म सूरि का समय विक्रम की लगभग पांचवीं शताब्दी माना जाता है । मलयगिरि ने इनपर टीकायें लिखी हैं जिनका समय 12–13 वीं शती है । देवेन्द्र सूरि (13–14 वीं शती) ने कर्मप्रकृति और शतक के रचयिता शिवशर्म सूरि को ही माना है ।

श्रुतज्ञान के बीस भेदों का वर्णन षट्खण्डागम के वेदनाखण्ड में मिलता है । इन्हीं का वर्णन उत्तरकाल में वृहत्कर्मप्रकृति नामक ग्रन्थ में मिलता है जो उपर्युक्त कर्मप्रकृति से पृथक् रहा है । मलधारी हेमचन्द्र सूरि और देवेन्द्रसूरि ने इस वृहत् कर्मप्रकृति का उल्लेख किया है । इस पर कसायपाहुड और षट्खण्डागम का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । यतिवृषभ ने चूर्णिसूत्र में सम्भवतः ऐसी ही किसी वृहत्कर्मप्रकृति या कम्मपयडि महाग्रन्थ का उल्लेख किया है जिसका आधर अग्रायणी पूर्व के चतुर्थ वस्तु अधिकार के अन्तर्गत कर्मप्रकृति प्राभृत रहा होगा ।

कर्मप्रकृति चूर्णि और कसायपाहुड चूर्णि में साम्य दिखाई अवश्य देता है पर वस्तुतः वे एक ही आचार्य की कृति नहीं हैं । दोनों की शैली और प्रकृति में अन्तर हैं । चूर्णिसूत्र की विभाषा और पदच्छेद की शैली यहां नहीं मिलती । हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि कर्मप्रकृति कार के समक्ष कसायपाहुड और षट्खण्डागम ग्रन्थ रहे अवश्य होंगे क्योंकि उसमें इन दोनो का अनुकरण किया गया है । सैद्धान्तिक भेद भी दोनों ग्रन्थों को अलग कर देते हैं । कर्मप्रकृति चूर्णि के उदीरणा प्रकरण में उत्तरप्रकृति के 158 भेद बतलाये हैं जबकि कसायपाहुड और गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड उनकी संख्या 148 मानते हैं । कर्मप्रकृति में क्षपकश्रेणी में क्षीणकषाय गुणस्थान में निद्रा और प्रचला का उदय नहीं माना गया जबकि कसायपाहुड चूर्णिसूत्र और भूतबलि ने उनका उदय माना है । भाषागत भेद भी है । यतिवृषभ ने शौरसेनी प्राकृत का उपयोग किया है जबकि कर्मप्रकृति में महाराष्ट्री प्राकृत का उपयोग किया गया है । अतः पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री का यह मत अधिक युक्तिसंगत लगता है कि यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णि के रचयिता के समक्ष रहे हों । यह भी संभव है कि कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णि के रचयिता एक ही हो ।

14. कसायपाहुड चुण्णि सुत्त का विषय – परिचय

साधारण तौर पर भारतीय दर्शनों में आत्मा के अस्तित्व को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है और यह माना गया है कि राग–द्वेष रूप कर्मों के कारण यह आत्मा जन्म–जन्मान्तरों में परिभ्रमण करता रहता है। कर्म का नाम कुछ भी हो पर उसका कार्य सभी ने एक स्वर से संसरण कराने वाला माना है । न्याय–वैशेषिक उसे अदृष्ट कहकर पुकारते हैं और उसे आत्मा का गुण मानते हैं । उनके अनुसार हर अच्छे–बुरे कार्यों के संस्कारों से हमारी आत्मा प्रभावित होती है और उससे आत्मा में अदृष्ट नामक गुण उत्पन्न होता है जो कर्मफल देने तक आत्मा के साथ संलग्न रहता है । सांख्यों की दृष्टि में शुभ–अशुभ कार्यों का संस्कार प्रकृति पर पड़ता है जो सुख–दुःख का कारण बनते हैं । बौद्ध इन संस्कारों को 'वासना' नाम से पुकारते हैं । जैन दर्शन ने इन्हीं संस्कारों को कर्म नाम दिया है । विशेषता यह है कि वह उस संस्कार के साथ ही एक विशेष जाति के सूक्ष्म पुद्गलों का आत्मा से सम्बद्ध होना भी मानता है । यही कर्म आत्मा से बंध जाने

पर सुख–दुःख रूप फल देते हैं । कर्मफल देने में ईश्वर नामक कोई भी तत्व कारण नहीं बनता । संसार में राग–द्वेष रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं । उन परिणामों से कर्म बंधते हैं आत्मा के साथ और आत्मा परिणामतः देव–मनुष्यादि गतियों में जन्म–मरण करता रहता है और नये–नये देह ग्रहण करता रहता है । देह से इन्द्रियां, इन्द्रियों से विषय–ग्रहण और विषय ग्रहण से राग–द्वेष उत्पन्न होते रहते हैं। इस राग–द्वेष को ही कषाय कहा जाता है जो अज्ञानता अथवा मोह का कारण है। इस प्रकार संसरण का मूल कारण हैं राग, द्वेष और मोह ।

कर्म–क्रिया मन, वचन, काय का परिस्पन्दन है जिसे योग कहा जाता है । योग के निमित्त से ही सूक्ष्म पुद्गल रूप कर्म परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और राग–द्वेष रूप कषाय का निमित्त पाकर आत्मा से सम्बद्ध हो जाते हैं । इन कर्म रूप सूक्ष्म परमाणुओं का आत्मा के भीतर आना ही आश्रव है और आत्मा–प्रदेशों के साथ उनका सम्बद्ध हो जाना बन्ध है । इस प्रकार आत्मा की योगशक्ति और कषाय ये दोनों कर्मबन्ध के कारण हैं ।

कर्मबन्ध के इन दोनों कारणों में से यदि कषाय आत्मा से दूर हो जाये तो कर्म–परमाणुओं का आगमन योग के रहने के कारण होगा तो अवश्य पर वे आत्मा के अन्दर रुक नहीं सकेंगे । इस संदर्भ में योग को वायु की, कषाय को गोंद की, आत्मा को दीवाल की, और कर्म परमाणुओं को दीवाल की उपमा दी जाती है । यदि दीवाल पर गोंद लगी हो तो बाहर की धूलि आसानी से चिपक जाती है । यदि वह सूखी हो तो धूलि नीचे गिर जाती है । वायु का वेग हीनाधिक हो तो धूलिका परिमाण भी उसी रूप में होगा । इसी तरह दीवाल पर धूलिका चिपकना भी पानी या गोंद की शक्ति पर निर्भर करता है । यही बात योग और कषाय के सन्दर्भ में भी है । योगशक्ति की तीव्रता और मन्दता के आधार पर कर्म–परमाणुओं का परिमाण भी हीनाधिक होता है । कषाय भी यदि तीव्र होती है तो आत्मा के साथ कर्म–परमाणु अधिक दिनों तक बंधे रहते हैं और फल भी तीव्र होता है। यदि कषाय मन्द होती है तो कर्मपरमाणुओं का बंध भी आत्मा के साथ कम होता है और उसका फल भी कम होता है ।

कर्म–परमाणुओं का यह बन्ध चार प्रकार का होता है – प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध । कर्मपरमाणुओं में आत्मा के ज्ञान–दर्शनादि गुणों को घात करने का जो स्वभाव होता है वह प्रकृतिबन्ध कहलाता है । उनकी काल स्थिति को स्थितिबन्ध, फल देने की शक्ति को अनुभागबन्ध और कर्म परमाणुओं के नियत परिमाण में आत्मा से संबद्ध होने को प्रदेश बन्ध कहा जाता है । इनमें प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का कारण योग है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का कारण कषाय है ।

प्रकृतिबन्ध – प्रकृतिबन्ध आठ कर्म के रूप में आठ प्रकार का है । ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करता है जिससे जीव अल्पज्ञानी या विशिष्टज्ञानी होता है । दर्शनावरण कर्म आत्मा के दर्शन गुण पर आवरण डालता है । वेदनीय कर्म आत्मा को सुख–दुःख का वेदन कराता है । आत्मा में राग, द्वेष, मोह को उत्पन्न करने वाले कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं । मोहनीय कर्म के कारण ही आत्मा को न यथार्थ सुख का भान होता है और न उसपर वह चल पाता है । नियत काल तक रोककर रखने वाले कर्म को आयुकर्म कहते हैं । जन्म–मरण का संबन्ध इसी आयुकर्म से है । अंगोपांगों की रचना करने वाले कर्म को नाम कर्म कहते हैं। अच्छे–बुरे संस्कारों वाले कुल, वंश को देने वाला कर्म गोत्र कर्म है और अभीप्सित वस्तु की प्राप्ति में विघ्न करने वाले कर्म को अन्तराय कर्म कहते हैं । इन आठ कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार धातिया कर्म कहलाते हैं और शेष चार कर्म अधातिया कहलाते हैं जो आत्मा के गुणों को घात करने में असमर्थ होते हैं । घातिया कर्म दो प्रकार के हैं । देशघाती तो आत्मा के गुण का एक देश घात करते हैं और सर्वघाती जो उनका पूर्ण रूप से घात करता है । आघातिया कर्मों के भी दो भेद हैं – पुण्य और पाप

कर्म । चारों घातिया कर्म पापरूप ही होते हैं । अघातिया कर्मों में साता वेदनीय, शुभ आयु, नामकर्म की शुभ प्रकृतियां और उच्चगोत्र पुण्यकर्म हैं और शेष प्रकृतियां पापकर्म हैं ।

उपर्युक्त आठ कर्मों को मोहनीय कर्म है सर्वाधिक प्रबल माना गया है । इसलिए सबसे पहले उसी का नाश करने के लिए आचार्यों ने उपदेश दिया है । मोहनीय कर्म के दो भेद हैं – दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शनमोहनीय के कारण जीव आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं कर पाता । इसमें राग, द्वेष और मोह कारणभूत होते हैं जिन्हें 'मोह' कहा जाता है । चारित्रमोहनीय के कारण जीव सांसारिक वस्तुओं में से किसी से राग करता है और किसी से द्वेष करता है । क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों का उदय इसी कर्म के कारण होता है । इन चारों कषायों का विभाजन राग और द्वेष में किया जाता है । चूर्णिकार ने इन कषायों का विभाजन विभिन्न नयों की अपेक्षा से राग–द्वेष में किया है । साधारण तौर पर क्रोध और मान को द्वेष रूप माना गया है क्योंकि इनसे दूसरों को दुःख होता है और माया तथा लोभ को राग रूप माना गया है क्योंकि इससे जीव सुख, आनन्द या हर्ष का अनुभव करता है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ कसायपाहुड और कसायपाहुड चुण्णिसुत्त 15 अधिकारों में विभक्त है और उनमें राग–द्वेष–मोह का तथा कषायों की बन्ध, उदय और सत्त्व आदि विविध दशाओं का विस्तृत व्याख्यान किया गया है जो इस प्रकार है ।

1. पेज्जदोसविभक्ति – इसमें कषायों को राग–द्वेष में विभक्त कर उन्हें विभिन्न प्रकार से समझाया गया है और उनके हीनाधिक परिणाम को स्पष्ट किया गया है । इस अधिकार में छह अवान्तर अधिकार हैं – प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक विभक्ति । कसायपाहुड में मात्र मोहनीय कर्म का वर्णन है । इस अधिकार में उसकी प्रकृति, स्थिति आदि का व्याख्यान किया गया है । मोहनीय कर्म के मूल दो भेद हैं – दर्शन और चारित्र । दर्शन मोहनीय के 3 भेद हैं – मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति । चारित्र मोहनीय कर्म के दो भेद हैं – कषायवेदनीय और नोकषाय वेदनीय । कषायवेदनीय के 16 भेद हैं – अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि । नोकषाय वेदनीय 9 प्रकार का है – हास्य, रति आदि । इस प्रकार चारित्रमोहनीय के कुल 25 भेद और दर्शनमोहनीय के तीन भेद मिलाकर मोहनीय कर्म के 28 भेद हो जाते हैं। इनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार प्रकृतियां और दर्शनमोह की तीन प्रकृतियां, ये 7 प्रकृतियां आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का घात करती हैं और उनके विनष्ट हो जाने पर आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रगट हो जाते हैं । इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशसंयम की, प्रत्याख्यानावरण कषाय सकलसंयम की, और संज्वलन कषाय यथाख्यात संयम की घातक हैं । नो कषायों का कार्य चारित्र में अतिचार, मल या दोष उत्पन्न करना है। जब आत्मा के भीतर से कषाय और नोकषाय का अभाव हो जाता है तब आत्मा में वीतराग अवस्था प्रगट हो जाती है । इस अधिकार में इसी का विस्तृत विवेचन किया गया है । बाद के उपर्युकत छह अधिकारों में से प्रारम्भ के दो अधिकारों का वर्णन स्थिति विभक्ति नामक दूसरे अधिकार में किया गया है । और शेष चारों अधिकारों का अन्तर्भाव अनुभागविभक्ति में हुआ है । अतएव दूसरे अधिकार का नाम स्थिति विभक्ति और तीसरे अधिकार का नाम अनुभागविभक्ति माना जा सकता है । शेष अधिकारों का विभाजन भी इसी तरह समझ लेना चाहिए। इनमें पश्चिम स्कन्ध अधिकार में जीव की अन्तिम अवस्था का वर्णन है । सयोगिजिन अवस्था पाने के बाद चार अघातिया कर्म शेष रह जाते हैं । उनके विनष्ट होने पर ही सिद्ध अवस्था प्राप्त हो पाती है । उनके क्षय का विधान चूर्णिकार यतिवृषभ ने इस अधिकार में किया है । यहां उन्होंने स्पष्ट किया है कि सयोगिजिन किस प्रकार से केवलिसमुद्घात करते हुए अघातिया कर्मों का क्षय करते हुए मुक्ति को प्राप्त करते हैं और अजर, अमर बन जाते हैं ।

इस प्रकार कसायपाहुड चूर्णिसूत्र में संसार परिभ्रमण का कारण रूप मोहनीय कर्म का सांगोपांग विवेचन कर उनसे विमुक्त होने का मार्ग बताया गया है ।

यतिवृषभ ने गुणधर द्वारा निर्दिष्ट इन 15 अधिकारों को एक अन्य प्रकार से संयोजित करने का सुझाव दिया है –

1. पेज्जदोसे (प्रेयोद्वेष विहत्ति)
2. ट्ठिदि अणु भागे च (प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, झीणाझीणा और स्थित्यन्तिक),
3. बंधगेति बंधे च
4. संकमो च (बन्धकपदसे तीसरा बन्धक और चौथा संक्रम अधिकार)
5. वेदएत्ति उदओ च
6. उदीरणा च (वेदकपद से पांचवां उदयाधिकार और छठा उदीरणाधिकार),
7. उवजोगे च (उपयोग),
8. चउट्ठाणे च (चतुः स्थान),
9. वंजणे च (व्यज्जन),
10. सम्मत्तेत्ति दंसणमोहणीयस्स उवसामणा च
11. दंसणमोहणीयक्खवणा च (''सम्यक्त्व'' पदसे दर्शन मोहनीय की उपशामना नामक दसवां दर्शनमोहनीय की क्षपणा नामक ग्यारहवॉ अधिकार),
12. देसविरदी च (देशविरति नामक बारहवां अधिकार),
13. संजमे उवसामणा च खवणा च चारित्त मोहणीयस्स उवसामणा च,
14. खवणा च (चारित्र मोहनीय की उपशामना नामक तेरहवां और चारित्र मोहनीय की क्षपणा नामक चौदहवां अधिकार),
15. अद्धा परिमाणणिद्देसो (और पन्द्रहवां अद्धापरिमाण निर्देश नामक अधिकार ।

इन अधिकारों में गुणधर ने पेज्जदोस विहत्ति, ठिदि, अणुभाग और बंधक इन चार नामों का संकेत मात्र किया है, उनका स्पष्ट विभाजन नहीं किया है । यतिवृषभ ने यह विभाजन स्पष्ट कर दिया और वेदक अधिकार के उदय और उदीरणा ये दो भेद करके संख्या बराबर कर दी । इसी तरह यतिवृषभ ने संयमासंयम लब्धि को तो स्वतन्त्र अधिकार मान लिया पर संयम पद को उपशामना और क्षपणा के साथ जोड़ दिया । और इस संख्या की पूर्ति परिमाण निर्देश का 15 वां अधिकार मानकर कर दी । यह विभाजन मात्र सुझाव था । इस तरह से अधिकारों का विभाजन अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है । यही कारण है कि यतिवृषभ ने अधिकार विवेचन गुणधरानुसार ही किया है । हां, यह अवश्य है कि यतिवृषभ ने अधिकार के लिए ''अनुयोग द्वार'' शब्द का प्रयोग किया है । यतिवृषभ ने 233 गाथाओं को 6000 प्रमाण चूर्णिसूत्रों में स्पष्ट किया । उसी पर उच्चारणाचार्य ने 12000 प्रमाण उच्चारणावृत्ति लिखी और वीरसेन ने 60000 प्रमाण जय धवला टीका की रचना की । वीरसेन ने चूर्णिसूत्रों को 'देशामर्षक' कहा है (क.पा. भा. 2 पृ. 14) और विशिष्ट जानकारी के लिए उच्चारणावृत्ति का उल्लेख किया है उनकी यह शैली संक्षिप्त होने पर भी विशदता को प्रगट करती है । यह भी उल्लेखनीय है कि यतिवृषभ ने 180 मूलगाथाओं तथा 53 सम्बन्ध गाथाओं में से मात्र तीन पर चूर्णिसूत्र

लिखे हैं । 50 गाथाओं पर उन्होंने कोई चूर्णिसूत्र नहीं लिखे हैं । चूर्णिसूत्र के साथ उन्होंने विभाषा, परिभाषा, वृत्ति, व्याख्यान आदि शब्दों की भी अपने ढंग से परिभाषाएँ दी हैं।

अधिकारानुसार चूर्णिसूत्रों की संख्या इस प्रकार हैं –

1	पेज्जदोसविहत्ती	112	2	प्रकृतिविभक्ति	130
3	स्थितिविहत्ति	407	4	अनुभागविभक्ति	189
5	प्रदेशविभक्ति	292	6	बन्धक	11
	झीणाझीण	142		संक्रम	740
	स्थित्यन्तिक	106	7	वेदक	668
8	उपयोग	321	9	चतुस्थान	25
10	व्यजन	0	11	सम्यक्त्व	140
12	संयमासंयमलब्धि	90		दर्शनमोहक्षपणा	128
13	संयमलब्धि	66	14	चारित्रमोहक्षपणा	706
15	चारित्रमोहक्षपणा	1572			
	पश्चिमस्कन्ध	52			

कुल 5897 सूत्र

15. चूर्णिसूत्र परम्परा

चूर्णिसूत्र का मूल सम्बन्ध आगमिक व्याख्या से है । यह परम्परा दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में मिलती है । श्वेताम्बर परम्परा में इस प्रकार की व्याख्याओं की पांच कोटियां हैं – निर्युक्तियां, भाष्य, चूर्णियां, संस्कृत टीकाएँ तथा लोक भाषाओं में रचित व्याख्याएँ । निर्युक्तियां और भाष्य पद्यात्मक प्राकृत में हैं पर चूर्णियां प्राकृत संस्कृत मिश्रित गद्य में लिखी गई हैं । आगमोत्तर साहित्य पर भी चूर्णियां लिखी गई हैं पर वे आगमिक चूर्णियों से बहुत कम हैं । उदाहरण के लिए कर्मप्रकृति शतक आदि की चूर्णियां उपलब्ध हैं । श्वेताम्बर साहित्य में लगभग पच्चीस आगमिक चूर्णियां हैं । इस विधा का प्रारम्भ श्वेताम्बर परम्परा में कदाचित् जिनदासगणि से हुआ है । आनन्द सागर सूरि के मत से उनकी इन चूर्णियों का क्रम इस प्रकार हैं – नन्दी चूर्णि, अनुयोग द्वार चूर्णि, आवश्यक चूर्णि, दशवैकालिक चूर्णि, उत्तराध्ययन चूर्णि, आचारांग चूर्णि, सूत्रकृतांग चूर्णि, और व्याख्याप्रज्ञप्ति चूर्णि । अधिकांश चूर्णियां प्राकृत में हैं पर कहीं कहीं संस्कृत मिश्रित प्राकृत भी है । आचार्यों ने व्याख्याक्रम में तत्तद्विषयक कथानक भी दिये हैं । उनमें सैद्धान्तिक नये तथ्य नहीं होते बल्कि स्थापित सिद्धान्तों की ही पुष्टि की जाती है ।

दिगम्बर परम्परा में भी चूर्णि साहित्य है पर इस प्रकृति से कुछ भिन्न है । यह चूर्णि साहित्य चूर्णिसूत्र साहित्य हैं जो वृत्ति का कार्य करते हुए भी अनेक नये तथ्यों को प्रस्तुत करता है । ये वृत्तिसूत्र ही चूर्णिसूत्र हैं। जय धवला में वृत्ति सूत्र का लक्षण इस प्रकार दिया है – सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्तसद्दरयणाए संगहिय – सुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तववएसादो, अ. प. 52 । अर्थात् जिसकी शब्द रचना संक्षिप्त हो और जिसमें सूत्रगत विशेष अर्थों का संग्रह किया गया हो, ऐसे सूत्रों के विवरण को वृत्तिसूत्र कहते हैं । इनमें संक्षिप्तता

होने के बावजूद अर्थबहुल पदों का भी समावेश होता है । इस दृष्टि से चूर्णिसूत्र और चूर्णिपद समानार्थक हो सकते हैं। इनमें सूत्रात्मकता होने पर भी नये तथ्यों का उद्घाटन होता है । बीजपदों की व्याख्या में सूत्रों की रचना होती चली जाती है और अनेक पद प्रयुक्त होते जाते हैं । कसायपाहुड की गाथाओं पर सूत्र लिखे गये हैं जिन्हें वृत्तिसूत्र भी कहा जाता है । आचार्य वीरसेन ने यतिवृषभ को 'वित्तिसुत्तकत्ता' कहा है । धवला में भी चूण्णि सुत्त का उल्लेख अनेक बार आया है । उन्होंने वृत्तिसूत्र और चूर्णिसूत्र दोनों शब्दों का प्रयोग किया है । त्रिलोकप्रज्ञप्ति की अन्तिम गाथा में भी यति वृषभ के 'चुण्णिसरूव' का उल्लेख आया है । धवला टीका में वीरसेन ने षड्खण्डागम के सूत्रों को भी 'चुण्णिसुत्त' कहा है (पु. 12 पृ. 41) । इसमें वस्तुतः समास पद्धति होने पर भी व्याख्यापद्धति समाविष्ट है । कसायपाहुड चुण्णिसुत्त के बाद अन्य चूर्णि साहित्य शायद लिखा नहीं गया ।

16. चूर्णिसूत्र शैली का वैशिष्ट्य

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है । समूचे आगम में अनेकान्तवाद के आधार पर ही वस्तुतत्त्व का विवेचन हुआ है। यतिवृषभ ने भी इसी विवेचन शैली का उपयोग किया है । नय और निक्षेप, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक आदि का आधार लेकर ही उन्होंने चूर्णिसूत्रों का गठन किया है । उदाहरण के लिए इस ग्रन्थ के दो नाम हैं – पेज्जदोस पाहुड और कसायपाहुड । पेज्ज और दोस ये कषाय हैं । इसलिए कसायपाहुड नाम नयनिष्पन्न है । द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से पेज्ज और दोस को 'कसाय' शब्द से अभिहित कर दिया गया । तथा पेज्जदोसपाहुड अभिव्याहरण निष्पन्न है ।

पेज्ज, दोस, कसाय, पाहुड आदि शब्द विविधार्थक हैं । निक्षेप शैली का आधार लेकर उनको यहां स्पष्ट किया गया है और अनेक उदाहरण देकर इनकी सारी स्थितियों और अवस्थाओं का सुन्दर विवेचन हुआ है । भावकषाय का विवेचन करते हुए आचार्य ने छः अनुयोगद्वारों का कथन किया है । इसी तरह पाहुड शब्द की निरुक्ति वगैरह करते हुए उसके विविध अर्थों को स्पष्ट किया है । यह शैली निश्चित ही प्राचीन शैली रही है। पूर्वों का विवेचन भी कदाचित् इसी शैली में रहा होगा ।

17. प्रस्तुत सम्पादन

प्रस्तुत कसाय पाहुड चुण्णि सुत्त का सम्पादन स्व. पं. हीरालाल जैन सिद्धान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित ''कसायपाहुड सुत्त श्रीयतिवृषभाचार्य विरचित चूर्णिसूत्र समन्वित'' ग्रन्थ के आधार पर किया गया है, और उसके परिशिष्टों का भी उपयोग हुआ है । पं. जी कुशल सम्पादक, अनुवादक और सिद्धान्त मर्मज्ञ थे । उन्होंने ताडपत्रीय प्रति से भी पाठ–संशोधन किया था । हम उनकी विद्वत्ता को साभार प्रणाम करते हैं ।

इस संस्करण को तैयार करने में जैन दर्शन के मर्मज्ञ पूज्य स्वामी चारुकीर्ति भट्टारक जी श्रवणवेलगोला का पथदर्शन और सान्निध्य सदैव से रहा है । उन्हीं के निर्देशानुसार यह सुन्दर संस्करण आपके समक्ष प्रस्तुत है । श्री ब्र. राकेशजी का भी सहयोग अविस्मरणीय है । मेरी पत्नी डॉ. पुष्पलता जैन ने भाषाविज्ञान विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये तथा अनुकूल गार्हस्थिक वातावरण प्रदान किया जिससे संस्करण को तैयार करने में अधिक समय मिल सका । गुरुवर्य स्व. पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री तथा अन्य विद्वानों के ग्रन्थों का भी हमने भरपूर उपयोग किया है। इन सभी महानुभावों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं । स्वामी जी के वात्सल्य और आर्शीवाद से प्राकृत ग्रन्थमाला प्रकाशन के इस गुरुतर कार्य को पूरे समय, श्रम और शक्ति के साथ यथाशीघ्र मंजिल तक पहुंचाने में मुझे अपार प्रसन्नता हो रही है।

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन भास्कर

छक्कखंडागम

आमुख

आचार्य गुणधर और धरसेन दिगम्बर जैन परम्परा के ज्ञात श्रुतधर आचार्य थे । इन्द्रनन्दि ने उनकी गुरुशिष्य परम्परा के विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित की । श्रुतावतार में लोहार्य (सुधर्मा) तक की आचार्य परम्परा के बाद विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आरातीय आचार्यों का उल्लेख आता है । ये सभी आचार्य अंगों और पूर्वों के एकदेशज्ञाता थे । उनके बाद संघनायक अर्हद्बलि का उल्लेख आता है जो पूर्वदेशवर्ती पुण्ड्रवर्धनपुर के निवासी थे । उन्होंने पंचवर्षीय युग–प्रतिक्रमण के बाद एक वृहत् यति–सम्मेलन बुलाया और नन्दि, गुणधर आदि नाम से भिन्न–भिन्न संघ स्थापित किये ।

1. आचार्य गुणधर और धरसेन

अर्हद्बलि के बाद माघनन्दि, गुणधर और धरसेन हुए और फिर पुष्पदन्त–भूतबलि का नाम आता है। नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली में भी माघनन्दि का नाम आता है और नन्दिसंघ की संस्कृत पट्टावली में माघनन्दि के बाद जिनचन्द्र और पद्मनन्दि कुन्दकुन्द का उल्लेख हुआ है, धरसेन का नहीं। इन उल्लेखों से यह तथ्य तो स्पष्ट हो जाता है कि ''पूर्वपदांशवेदी'' माघनन्दि धरसेन के पूर्ववर्ती आचार्य थे जो धरसेन के गुरु रहे हों । गुणधर धरसेन के पूर्ववर्ती होंगे और पुष्पदन्त–भूतबलि के बाद आचार्य पद्मनन्दि कुन्दकुन्द का समय आता है । आचार्य गुणधर का कसायपाहुड और पुष्पदन्त–भूतबलि का षट्खण्डागम उपलब्ध आगम परम्परा में प्राचीनतम माने जा सकते हैं । डॉ. हीरालाल जैन के अनुसार धरसेन का समय वीर निर्वाण 62 + 100 + 183 + 123 + 97 + 28 + 21 =614 वर्ष पश्चात् स्थापित होता है । इसके बाद ही आचार्य कुन्दकुन्द का नाम आता है । महावीर का निर्वाण ई.पू. 527 में हुआ । वीर निर्वाण से 470 वर्ष बाद विक्रम की मृत्यु के साथ विक्रम संवत् प्रचलित हुआ । अतः षड्खण्डागम का रचनाकाल वि. सं. 614–470 = 144 शक संवत् 614 – 605 = 9 तथा ईसवी सन् 614 – 527 = 87 के बाद निश्चित किया जा सकता है । इसके बाद ही आचार्य कुन्दकुन्द और यतिवृषभ की परम्परा का प्रारम्भ होता है ।

2. आचार्य पुष्पदन्त – भूतबलि और उनका समय

षड्खण्डागम कर्मसिद्धान्त का एक अन्यतम प्राचीन ग्रन्थ है जो दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध है। इसकी पृष्ठभूमि में आचार्य धरसेन का बहुश्रुत व्यक्तित्व छिपा हुआ है । गिरनार की चन्द्रगुफा ही उनकी तपस्थली थी । वे अंग और पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता थे और महाकम्मपयडिपाहुड के वेत्ता थे। अपना अन्तिम समय जानकर उन्होंने महिमा नगरी में हो रहे यति सम्मेलन से दो साधुओं को आमन्त्रित किया जो उनसे ज्ञान प्राप्त कर सकें । तदर्थ पुष्पदन्त और भूतबलि उनके पास पहुंचे । उन्होंने दोनों साधुओं की भलीभांति परीक्षा की

और उन्हें महाकम्मपयडि पाहुड का अध्ययन कराकर वापिस भेज दिया। गिरनार से लौटते समय उन्होंने अंकुलेश्वर में वर्षावास किया। वर्तमान में यह अंकुलेश्वर करीश्वर के नाम से जाना जाता है ।

अंकुलेश्वर से दोनों महामुनि करहाटक पहुंचे जो आज कराड के नाम से प्रसिद्ध है । यह नगर सतारा (महाराष्ट्र) जिले में है। यहां पुष्पदन्त के भानजे जिनपालित रहते थे । पुष्पदन्त भी यहीं आसपास के रहने वाले रहे होंगे। यहीं से वे आन्ध्रदेश में वेण्यानदी के तट पर बसे महिमानगरी में होनेवाले सम्मेलन में गये होंगे । कराड के पास वेण्यानदी आज भी है और उसके तट पर महिमानगढ नामक ग्राम भी है । संभव है, यह भाग उस समय आन्ध्रप्रदेश में संमिलित रहा हो और यति सम्मेलन यहीं हुआ हो।

पुष्पदन्त जिनपालित को यहां से लेकर वनवासदेश चले गये जो उत्तर करनाटक का प्राचीन नाम है । उस समय यहां कदम्बवंश का राज्य था और वनवास उसकी राजधानी थी । वहीं उन्होंने जिनपालित को पढाने के लिए 'वीसदि' सूत्रों की रचना की । तब तक भूतबलि द्रमिल (द्राविड) देश पहुंच गये थे। उन्होंने जिनपालित को भूतबलि के पास वीसदि लेकर भेजा । वीसदि ही सत्प्ररूपणा है जिसमें 177 सूत्र हैं । पुष्पदन्त भूतबलि से ज्येष्ठ थे । उन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर चौदह जीवसमासों और गुणस्थानों के विवेचन के लिए आठ अनुयोगद्वारों का निर्धारण किया – 1) सत्प्ररूपणा, 2) द्रव्यप्रमाणानुगम, 3) क्षेत्रानुगम, 4) स्पर्शानुगम, 5) कालानुगम, 6) अन्तरानुगम, 7) भावानुगम और 8) अल्पबहुत्वानुगम। ये आठ अधिकार जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड के हैं । 'वीसदि' का तात्पर्य सत्प्ररूपणा से है जिसकी रचना पुष्पदन्त ने की । पुष्पदन्त की आयु का अन्तिम समय जानकर आगे की ग्रन्थ रचना भूतबलि ने की ।

षट्खण्डागम की समूची भूमिका बनाने का श्रेय पुष्पदन्त को ही है । जिनपालित से भूतबलि को इसकी पूरी जानकारी मिली और उसे उन्होंने आगे बढाया । सत्प्ररूपणा का विवेचन वीस प्ररूपणाओं से किया गया है – 1) गुणस्थान , 2) जीवसमास, 3) पर्याप्ति, 4) प्राण, 5) संज्ञा, 6) 14 मार्गणायें और 20) उपयोग । इसीलिए इसे वीसदिसूत्र कहा गया है। ये जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड के ही अधिकार हैं। इसके अविशिष्ट विषय को भूतबलि ने चूलिका में समाहित कर दिया । इसका तात्पर्य यह है कि पुष्पदन्त सत्प्ररूपणा के ही लेखक थे । चूलिका का लेखन भूतबलि ने किया था । इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में ऐसा विवरण दिया हुआ है ।

नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावलि के अनुसार धरसेन का समय वीर नि. सं. 614 के बाद रहा है। उनका आचार्य काल 19 वर्ष था । धरसेन के पश्चात् पुष्पदन्त का आचार्यकाल 30 वर्ष का था । आचार्य पुष्पदन्त नन्दिसंघ पट्टावली के अनुसार भूतबली से पूर्ववर्ती हैं । वहां स्पष्ट कहा गया है कि महावीर के परिनिर्वाण के बाद 565 वर्ष बीतने पर पांच आचार्य एक

अंगधारी हुए – अर्हद्बली, महानन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबली । तदनुसार उनका समय वी. नि. सं. 633 अर्थात् ईसवी सन् प्रथम–द्वितीय शताब्दी के आसपास निश्चित किया जा सकता है । डॉ. ज्योति प्रसाद जैन ने उनका समय ई. सन् 50–80 प्रस्थापित किया है । आचार्य वीरसेन ने भूतबलि से पूर्व पुष्पदन्त का स्तवन करते हुए उन्हें 'इसि–समिय–वइं'' कहकर उनके प्रति गहरा सम्मान व्यक्त किया है और कहा है कि वे मुनि समिति के प्रधान परिपालक थे।

आचार्य भूतबलि का समय पुष्पदन्त के बाद ही आता है । डॉ. ज्योति प्रसाद जैन के अनुसार उनका समय ई. सन् 66–90 तक हो सकता है । लगभग इसे ही षट्खण्डागम (छक्खंडागम) का रचनाकाल कह सकते हैं । प्राकृत पट्टावली, नन्दिसंघ की गुर्वावली आदि के अनुसार भी उनका समय ई. सन् की प्रथम–द्वितीय शताब्दी ही आता है । डॉ. हीरालाल जैन ने वी. नि. सं. 614 और 683 के बीच उनका समय निर्धारित किया है ।

ये दोनों आचार्य यतिवृषभ और कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती हैं । यतिवृषभ ने कसायपाहुड चुण्णिसुत्त और तिलोयपण्णत्ति की रचना की । तिलोयपण्णत्ति में प्रक्षिप्तांश बहुत हैं । इसलिए उसका कालनिर्धारण करना सरल नहीं है । फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि भूतबलि के बाद यतिवृषभ का कालक्रम आना चाहिए।

3. छक्खंडागम का मूल आधार

षट्खण्डागम का मूल आधार पूर्व साहित्य रहा है । चौदह पूर्वों में द्वितीय अग्रायणी पूर्व है जिसके चयनलब्धि नामक पांचवें अर्थाधिकार के चौबीस अर्थाधिकारों में से प्रथम छह अर्थाधिकारों से षट्खण्डागम का उद्भव हुआ है। मात्र चूलिका अनुयोगद्वार सहित जीवट्ठाण इसका अपवाद है । जीवस्थान चूलिका की सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक आठवीं चूलिका दृष्टिवाद अंग के दूसरे सूत्र नामक अर्थाधिकार से निकली है और गति आगति नामक नवमी चूलिका व्याख्याप्रज्ञप्ति से निकली है।

अग्रायणी पूर्व 14 वस्तुओं में विभक्त है – 1) पूर्वान्त, 2) अपरान्त, 3) ध्रुव, 4) अध्रुव, 5) चयनलब्धि, 6) अर्धोपम, 7) प्रणिधिकल्प, 8) अर्थ, 9) भौम, 10) व्रतादिक, 11) सर्वार्थ, 12) कल्पनिर्याण, 13) अतीतसिद्ध–बद्ध, और 14) अनागत बद्ध, । पंचम चयनलब्धि के 20 पाहुड हैं । उनमें से चतुर्थ कर्मप्रकृतिपाहुड के 24 अनुयोग द्वार हैं – 1) कृति, 2) वेदना, 3) स्पर्श, 4) कर्म, 5) प्रकृति, 6) बंधन, 7) निबंधन, 8) प्रक्रम, 9) उपक्रम, 10) उदय, 11) मोक्ष, 12) संक्रम, 13) लेश्या, 14) लेश्याकर्म, 15) लेश्यापरिणाम, 16) सातासात, 17) दीर्घह्रस्व, 18) भवधारणीय, 19) पुद्गलता, 20) निधत्तानिधत्त, 21) निकाचिता निकाचित, 22) कर्मस्थिति, 23) पश्चिमस्कन्ध, और 24) अल्पबहुत्व ।

इनमें से छठे बंधन अनुयोग के चार भेद हैं – बंध, बंधनीय, बंधक और बंधविधान ।

प्रथम दो अनुयोगों से वेदनाखण्ड, तीसरे से ग्यारहवें तक के अनुयोगों से वर्गणाखण्ड, बंधक से खुद्दाबन्ध खण्ड 2, और बंधविधान से महाबन्ध खण्ड 6 का उद्भव हुआ है। बंधविधान के 4 भेद हैं – 1) प्रकृति बंध, 2) स्थिति बन्ध, 3) अनुभाग बन्ध और 4) प्रदेश बन्ध । प्रकृतिबन्ध दो प्रकार का है – मूल और उत्तर । उत्तर प्रकृतिबन्ध पुनः दो प्रकार का है – एकैकोत्तर और अव्वोगाढ। एकैकोत्तर के 24 भेद हैं । इनमें प्रथम समुत्कीर्तना पांच प्रकार की है – प्रकृति, स्थिति, दण्डक 1, दण्डक 2, दण्डक 3 जिनसे जीवट्ठाण की 5 चूलिकाएँ निकली हैं । बारहवें बन्धस्वामित्वविधान से खण्ड 3 निकला, 23वें भाव प्ररूपणा से जीवट्ठाण का 7 वां अधिकार निकला। अव्वोगाढ उत्तरप्रकृतिबन्ध के दो भेद हुए–भुजगार और प्रकृति स्थान। प्रकृतिस्थान के 8 भेद हैं – सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व जिनसे जिवट्ठाण के छह अनुयोगद्वार निकले हैं ।

4. आचार्य पुष्पदन्त की संतपरूवणा

षड्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान के आठ अनुयोगद्वारों में से प्रथम अनुयोगद्वार का नाम संतप्ररूवणा अर्थात् सत्प्ररूपणा है जिसे ''वीसदि सुत्त'' भी कहा जाता है । 'वीसदि सुत्त'' का अभिप्राय तो अधिक स्पष्ट यहां नहीं हो पाता पर वीरसेन स्वामी द्वारा उद्धृत एक गाथा से ऐसा लगता है कि इसमें वीस प्ररूपणायें कही गई हैं – गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाएँ और उपयोग । प्ररूपणा का तात्पर्य है – सामान्य और विशेष की अपेक्षा से पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणों से विशिष्ट जीव की परीक्षा करना । इन प्ररूपणाओं का कथन पुष्पदन्त ने नहीं किया, धवलाकार ने किया है । पुष्पदन्त ने तो मात्र 177 सूत्र लिखे हैं । उत्थानिका में वीरसेन ने स्पष्ट रूप से पुष्पदन्त का ही नामोल्लेख किया है । द्रव्यप्रमाणानुगम अनुयोगद्वार के प्रथम सूत्र की उत्थानिका में भूतबलि का नाम मिलता है । अतः द्रव्यप्रमाणानुगम से भूतबलि की रचना का प्रारम्भ होता है ।

समूचे षड्खण्डागम की रूपरेखा आचार्य पुष्पदन्त ने तैयार की 177 सूत्रों में और अवशिष्ट विषयों के लिए भूतबलि ने चूलिका नामक अधिकार लिखा । इन्द्रनन्दि श्रुतावतार और धवला के कथनों से कोई स्पष्ट विचार इस संदर्भ में सामने नहीं आता । वीरसेन के अनुसार चूलिका की भी रूपरेखा पुष्पदन्त ने तैयार की थी । परन्तु सम्पूर्ण षड्खण्डागम की रूपरेखा पुष्पदन्त की नहीं थी। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का उपसंहार कर भूतबलि ने उसके छह खण्ड किये । जीवस्थान के प्रथम अधिकार की रचना निस्सन्देह पुष्पदन्त ने की और उसे जिनपालित के हाथ भूतबलि के पास भेजा । भूतबलि ने उसका समुचित विभाजनकर षड्खण्डागम का रूप दिया और उसे जिनपालित के हाथ पुष्पदन्त के पास वापिस भेज

दिया। पुष्पदन्त की आयु का अन्तिम समय था । उन्होंने षड्खण्डागम की रूपरेखा देखकर सन्तोष व्यक्त किया और श्रुतावतार मानकर श्रुतपंचमी के दिन पुलकित होकर उसकी पूजा की । नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने इसके सामूहिक नाम को 'छक्खंड' नाम दिया, भूतबलि ने उसे षट्खण्डसिद्धान्त कहा और इन्द्रनन्दि ने छक्खंडागम कहा। उसके छह खण्डों के नाम हैं – जीवस्थान, खुद्दाबन्ध, बन्ध स्वामित्व विचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध ।

विषय परिचय

1. जीवट्ठाण

जीवट्ठाण के प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणा में कुल 177 सूत्र हैं जिसका प्रारम्भ णमोकार मन्त्र से हुआ है। इसे पुष्पदन्त ने निबद्ध मंगल माना है जिसका तात्पर्य है कि यह मन्त्र पुष्पदन्त द्वारा रचित है। इसके प्रारम्भिक दो पद खारवेल शिलालेख में मिलते हैं । अतः उत्तर के तीन पद इस मन्त्र में पुष्पदन्त ने सम्मिलित किये होंगे और तभी से इसे पंच नमस्कारमन्त्र कहा गया है ।

इसके बाद श्रुतावतार का विवरण देते हुए चौदह जीव समासों के अन्वेषण के लिए चौदह मार्गणा स्थान की चर्चा की गई है । यहां गुणस्थान शब्द के स्थान पर जीवसमास शब्द का प्रयोग हुआ है । चौदह मार्गणाएँ ये हैं – गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक । इन जीवसमासों के कथन के लिए आठ अनुयोगद्वारों को माध्यम के रूप में चुना गया है – सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम।

जीवसमास की प्ररूपणा यहां ओघ (सामान्य) और आदेश (विशेष) के आधार पर की गई है । जीवसमास का तात्पर्य है जिनमें जीव भली प्रकार निवास करते हैं । संत प्ररूपणा का भी तात्पर्य है – जहां सत् की प्ररूपणा की गई हो । इस सन्दर्भ में यहां चौदह गुणस्थानों की चर्चा की गई है जिन्हें मोक्ष के सोपान के रूप में देखा जाता है । इसके बाद आदेश अर्थात् विस्तार से गुणस्थानों का कथन किया गया है । ये गुणस्थान हैं – मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरणसंयत, अनिवृत्तिवादर संयत, सूक्ष्मसांपरायसंयत, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली । चतुर्थ गुणस्थान के बाद सभी गुणस्थान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं । सातवें गुणस्थान के बाद सभी गुणस्थान संयमी मनुष्यों के ही होते हैं । आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियां प्रारम्भ होती हैं – उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी । दोनों श्रेणियां ध्यानी साधुओं के होती हैं । पर उपशमश्रेणी वाला साधु ग्यारहवें गुणस्थान में

पहुंचकर नीचे गिर जाता है जबकि क्षपक श्रेणी वाला आगे बढ जाता है। आठवें गुणस्थान तक स्थूल कषाय (साम्पराय) रहती है पर बाद में कषाय सूक्ष्म हो जाती है । ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय उपशान्त हो जाती है और वह वीतराग छद्मस्थ कहलाता है । बारहवें गुणस्थान में क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ बन जाता है। उसका चित्त स्फटिक मणि के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो जाता है । तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान हो जाता है और योग से मुक्त होने पर बाद में वह अयोगकेवली बन जाता है ।

चौदह गुणस्थानों के समान चौदह मार्गणाएँ होती हैं जिनसे गुणस्थानों का कथन किया जाता है। उदाहरण के तौर पर देवगति और नरकगति में प्रारम्भ के चार गुणस्थान होते हैं, तिर्यंच गति में पांच और मनुष्यगति में चौदहों गुणस्थान होते हैं । पंचेन्द्रिय जीवों के चौदह तथा एकेन्द्रियादि के पहला ही गुणस्थान होता है । क्रोध, मान, माया नौवें गुणस्थान तक, और लोभ कषाय दसवें गुणस्थान तक रहती है । आगे के गुणस्थानों में कषाय नहीं रहती । प्रथम चार गुणस्थान वाले जीव असंयत होते हैं और छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव संयमधारी होते हैं । असंज्ञी और अभव्यों के पहला ही गुणस्थान होता है। तेरहवें गुणस्थान तक आहारक रहता है और अनाहारक विग्रहगति अवस्था पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान में होती है, समुद्घात करने वाली सयोगकेवली अवस्था तेरहवें तथा, अयोगकेवली और सिद्ध अवस्था चौदहवें गुणस्थान में होती है ।

चौदहवीं मार्गणा के साथ ही सत्प्ररूपणा का विषय समाप्त हो जाता है । आचार्य पुष्पदन्त की रचना यहीं तक है। यहां सामान्य सत्प्ररूपणा में चौदह गुणस्थान की अपेक्षा जीव के अस्तित्व का प्रतिपादन किया गया है और विशेष में चौदह मार्गणाओं की अपेक्षा गुणस्थानों में जीवों के अस्तित्व को समझाया गया है । इस तरह सत्प्ररूपणा आगे के खण्डों को समझने के लिए आधारभूत ग्रन्थ है ।

5. आचार्य भूतबली का षट्खण्डागम

चूलिका

जीवस्थान के इन अधिकारों के बाद उसकी चूलिका है जिसकी रचना कदाचित् आचार्य भूतबलि ने की है । आचार्य पुष्पदन्त ने जिस विषय को अपने संतपरूवणा में समाविष्ट नहीं किया उसे आचार्य भूतबलि ने उसकी चूलिका लिखकर उसमें समाहित कर दिया । अतः वह जीवस्थान का ही अभिन्न अंग है । इसमें नौ चूलिकायें हैं जो षट्खण्डागम पु. 6 में समाविष्ट हैं । पुष्पदन्ताचार्य के 'एत्तो' सूत्र से धवलाकार ने यह मन्तव्य निकाला है कि चूलिका की रूपरेखा भी पुष्पदन्त की है । शेष षट्खण्डागम की रूपरेखा का निर्माण आचार्य भूतबली ने किया है । उन्हींने महाकर्म प्रकृतिप्राभृत का उपसंहार कर उसे छह खण्डों में विभाजित किया । परन्तु इन्द्रनन्दी ने लिखा है कि षट्खण्डागम की रूपरेखा का निर्माण पुष्पदन्त ने किया। उन्होंने उसे जिनपालित के हाथ भूतबली के पास भेजा और दोनों

ने श्रुतावतार मानकर श्रुतपंचमी के दिन उसकी पूजा की । संभव है, षट्खण्डागम की रूपरेखा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के चौबीस अनुयोगद्वारों के आधार पर दोनों आचार्यों ने तैयार की हो ।

धवला और जयधवला में आये संतकम्मपाहुड के उल्लेखों से ऐसा लगता है कि संतकम्मपाहुड कसायपाहुड जैसा एक स्वतन्त्र आगम ग्रन्थ होना चाहिए । परन्तु डॉ. हीरालाल जी ने इसे छक्खंडागम का ही पर्यायवाची शब्द माना है। सत्प्ररूपणा की टीका धवला (षड् ख. पु. 1, पृ. 217) में कसायपाहुड और संतकम्मपाहुड के बीच वैचारिक मतभेदों का उल्लेख अनेक बार हुआ है जिससे ऐसा लगता है कि दोनों ग्रन्थ अलग–अलग हैं ।

आचार्य भूतबलि ने महाकर्मप्रकृति प्राभृत के चौबीस अनुयोगद्वारों में से केवल छह अनुयोग द्वारों पर ही सूत्र लिखकर षड्खण्डागम की रचना की । उनमें से पांच खण्डों पर वीरसेन ने धवला टीका लिखी और शेष अनुयोगद्वारों को भी व्याख्यायित किया जिसका आधार संतकम्मपाहुड रहा है । संतकम्मपाहुड महाबन्ध से अलग है। महाबन्ध में प्रथम समय सम्बन्धी बंध की व्याख्या की गई है जबकि संतकम्मपाहुड में बन्ध के बाद सत्ता रूप में स्थित प्रकृतियों की चर्चा की गई है ।

सत्कर्मपंजिका के नाम से वीरसेन ने प्रारम्भिक चार अनुयोगों पर एक व्याख्या लिखी । उसमें उन्होंने लिखा है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के पांचवें प्रकृतिनामा अधिकार के अनुयोगद्वारों में आठों कर्मों के प्रकृतिसत्व, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशसत्त्व आदि की व्याख्या की गई है इसलिए उन्हें 'संतकम्मपाहुड' कहा जाता है । इसका तात्पर्य है कि चौथे, छठें, सातवें आदि जिन अठारह अनुयोगद्वारों में सत्ता रूप से स्थित कर्म का विशेष कथन किया गया है वह संतकम्मपाहुड है और यह पाहुड महाकम्मपयडिपाहुड का ही अंग है । डॉ. हीरालालजी ने इसी महाकम्मपयडिपाहुड को 'सत्कर्मप्राभृत' की संज्ञा दी है।

6. षट्खण्डागम

जैसा हम पहले कह चुके हैं, दृष्टिवाद में चौदह पूर्वों का अन्तर्भाव था उनमें से द्वितीय अग्रायणी पूर्व के पंचम वस्तु अधिकार के चयन लब्धि में बीस प्राभृताधिकार थे । उनमें चतुर्थ प्राभृत का नाम महाकर्मप्रकृति था जिसका ही संक्षिप्त रूप षट्खण्डागम है । उसके चौबीस अनुयोगद्वारों को ही भूतबलि ने छह खण्डों में विभाजित किया है।

प्रथम खण्ड जीवस्थान कर्मप्रकृतिप्राभृत के बन्धन नामक अर्थाधिकार के पांचवें अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाणानुगम से यह उद्भूत हुआ है । इसके आठ अनुयोगद्वार हैं ।

1) सत्प्ररूपणा – उनमें प्रथम है जिसके लेखक आचार्य पुष्पदन्त हैं। इसके विषय में हम पहले लिख ही चुके हैं ।

2) द्रव्यप्रमाणानुगम – इसमें द्रव्य की संख्या का बोध (अनुगम) कराया गया है ।

आचार्य भूतबलि की रचना यहीं से प्रारम्भ होती है । कर्मप्रकृतिप्राभृत के बन्धक नामक द्वितीय अधिकार के पांचवें अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाण से यह द्रव्यप्रमाणानुगम निकला है । इसमें कुल 192 सूत्र हैं । इन सूत्रों का सम्बन्ध सीधे महावीर जैसे आप्त महापुरुष से है । भूतबलि ने तो स्वयं को उसका व्याख्याता मात्र माना है । यहां द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से समस्त जीवों की संख्या का परिज्ञान कराया गया है । प्रारम्भ के चौदह सूत्रों में गुणस्थानों में जीव राशि का प्रमाण बताया है और 15 से मार्गणा स्थानों के प्रमाण का निर्देश है । प्रमाण की दृष्टि से मिथ्यादृष्टि जीवों का प्रमाण अनन्तानन्त है। यह अनुयोगद्वार धवला टीका के साथ तृतीय पुस्तक में प्रकाशित हुआ है ।

3) क्षेत्रानुगम में समस्त सूत्र 92 हैं । क्षेत्र का तात्पर्य है आकाश । जीव लोकाकाश में रहते हैं। क्षेत्रावगाहना की अपेक्षा से जीवों की तीन अवस्थाएँ होती हैं – स्वस्थान, समुद्घात, और उपपाद। मूलशरीर को छोडे बिना जीव के प्रदेशों के बाहर निकलने को समुद्घात कहा जाता है । उसके वेदना, कषाय, वैक्रियक, मारणान्तिक, तेजस, आहारक और केवलिसमुद्घात ये सात भेद हैं । पूर्व शरीर को छोडकर अपने नये जन्मस्थान तक जीव के गमन करने को उपपाद कहते हैं । इस तरह ये दस अवस्थायें जीव की होती हैं ।

4) स्पर्शानुगम – इसमें 185 सूत्र हैं । स्पर्शन का तात्पर्य है जीवों के द्वारा स्पृष्ट क्षेत्र । क्षेत्र का सम्बन्ध जीव के वर्तमान काल से रहता है जबकि स्पर्शन में उसके भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों काल अधिगृहीत होते हैं । मिथ्यादृष्टि जीव समूचे लोक में व्याप्त है क्योंकि वे एकन्द्रिय होते हैं। जबकि त्रस जीव केवल त्रसनाडी में ही रहते हैं । इस तरह यहां चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणाओं में जीवों के स्पर्शन विषयक क्षेत्र का कथन किया गया है।

5) कालानुगम – इसमें 342 सूत्र हैं । यहां नाना जीव और एक जीव किस गुणस्थान अथवा मार्गणा स्थान में कम से कम और अधिक से अधिक कितने काल तक रहते हैं, इसका कथन किया गया है । अभव्य जीव कभी मिथ्यात्व नहीं छोडते, अतः उनकी अपेक्षा अनादि अनन्त काल है । भव्य जीव अनादि काल से मिथ्यादृष्टि है किन्तु मिथ्यात्व को छोडकर जब सम्यक् दृष्टि हो जाता है तो उसके मिथ्यात्व का काल अनादि सान्त है पर वह जो पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है तो उसका काल सादि और सान्त है। ऐसे जीवों का मिथ्यात्व काल कम–से–कम अन्तर्मुहूर्त है । उसके बाद वे सम्यक्दृष्टि संपन्न हो जाते हैं । उनका उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है ।

क्षेत्र, स्पर्शन और काल ये तीन अनुयोग द्वार धवला टीका के साथ चतुर्थ पुस्तक में प्रकाशित हुए हैं ।

6) अन्तरानुगम – किसी गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान में जाकर पुनः उस गुणस्थान की प्राप्ति में जितना काल लगता है उसका नाम अन्तर है । इस अनुगम में ओघ और आदेश

की अपेक्षा इसी अन्तर का कथन किया गया है । इसमें 397 सूत्र हैं ।

7) भावानुगम – इसमें 93 सूत्र हैं । भाव का तात्पर्य है जीवों का परिणाम । ये भाव पांच प्रकार के हैं – औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक । यहां जीव के गुणस्थानों और मार्गणाओं की दृष्टि से भाव का कथन किया गया है ।

8) अल्पबहुत्वानुगम – इसमें 382 सूत्र हैं । अल्पबहुत्व का अर्थ है हीनाधिकता । एक गुणस्थानवर्ती जीव अन्य गुणस्थानवर्ती जीवों से अल्प हैं या अधिक, इसका विचार इस अनुगम में किया गया है ।

अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व ये तीन अनुयोगद्वार षट्खण्डागम की पांचवी पुस्तक में प्रकाशित हैं ।

7. जीवस्थान चूलिका

आठ अनुयोगद्वारों के बाद उनके कथित और अकथित विषय को स्पष्ट करने के लिए जीवस्थान की यह चूलिका है। इसके 9 अधिकार हैं – प्रकृतिसमुत्कीर्तन, स्थान समुत्कीर्तन, प्रथम महादण्डक, द्वितीय महादण्डक, तृतीय महादण्डक, उत्कृष्ट स्थिति, जघन्य स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति – आगति चूलिका। इनमें क्रमशः 46 + 117 + 2 + 2 + 2 + 44 + 43 + 16 + 243 = 517 सूत्र हैं । यह भाग छठी पुस्तक में प्रकाशित है । अनुयोगद्वार सूत्र में भी इसका विवेचन हुआ है । पर उतनी विशदता के साथ नहीं जितना जीवट्ठाण में मिलता है । इसकी भी रचना भूतबली ने ही की थी ।

1) चूलिका के प्रारम्भ में प्रथम सूत्र में कुछ प्रश्न किये गये हैं जिनके समाधान के रूप में सूत्रकार ने चूलिका के नव अधिकारों की रचना की है उनमें प्रकृति समुत्कीर्तन में आठ कर्मों की मूल और उत्तरप्रकृतियों का विवेचन किया गया है । 2) दूसरी चूलिका स्थानसमुत्कीर्तन में ये प्रकृतियां एक साथ बंधती हैं या क्रम से बंधती हैं, इसको स्पष्ट किया गया है । 3) तृतीय चूलिका प्रथम महादण्डक में उन कर्म प्रकृतियों का उल्लेख है जिन्हें प्रथम उपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के अभिमुख हुआ जीव नहीं बांधता है और बांधता है । 4) चतुर्थ चूलिका द्वितीय महादण्डक में उन प्रकृतियों का उल्लेख है जिन्हें प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने के अभिमुख हुआ देव व सातवीं पृथिवी के नारकी को छोडकर अन्य नारकी बांधता है । 5) पांचवीं चूलिका तृतीय महादण्डक में सातवीं पृथिवी के नारकी के प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख होने पर बंधने वाली प्रकृतियों की गणना की गई है । 6) छठी उत्कृष्ट स्थिति चूलिका में कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का कथन है । 7) सातवीं जघन्य स्थिति चूलिका में कर्मों की जघन्य स्थिति और उसका आबाधाकाल बतलाया है। 8) आठवीं सम्यक्त्वोत्पत्तिचूलिका में सम्यक्त्व की उत्पत्ति का विवेचन है और 9) नवमीं गति–आगति चूलिका में चार तथ्यों को प्रगट किया गया है – 1) चारों गतियों में सम्यक्त्व की उत्पत्ति

और उसके कारण, 2) चारों गतियों में प्रवेश करने और वहां से निकलने के समय जीवों के कौन–कौन से गुणस्थान हो सकते हैं, इसका कथन, 3) किस गति से किस गुणस्थान के साथ निकलकर जीव किन किन गतियों में जन्म ले सकता है, इसका कथन, और 4) किस गति से निकलकर जीव किस गति में जन्म लेता है और कहां कहां तक उन्नति कर सकता है, इसका कथन।

8. द्वितीय खण्ड : खुद्दाबंध (क्षुद्रबन्ध)

बन्धकसत्त्वप्ररूपणा खुद्दाबंध षड्खण्डागम का द्वितीय खण्ड है । इसे महाबन्ध का संक्षिप्त रूप कह सकते हैं । इसमें संक्षेप से बन्धक जीवों की प्ररूपणा की गई है । महाबन्ध 30,000 ग्रन्थ प्रमाण है जबकि खुद्दाबंध में मात्र 1589 सूत्रों से अपना कथ्य कह दिया गया है । इसका आधार रहा है महाकर्मप्रकृति के छठवें अनुयोगद्वार का बंधक नामक अधिकार । इसे ग्यारह अनुयोगद्वारों के माध्यम से समझाया गया है । ये अनुयोगद्वार हैं – स्वामित्व, कालानुगम, अन्तरानुगम, भंगविचयानुगम, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इसमें कुल 13 प्रकरण और 1589 (43+91+216+251+23+171+124+274+ 55+68+88+206+792) सूत्र हैं ।

1. एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व – इसमें जिस मार्गणा वाला जीव जिस कर्म के उदय या क्षयोपशम आदि से होता है, उसका वैसा कथन किया गया है । जैसे नरकगति नामकर्म के उदय से नारकी होता है। यहीं यह भी कहा गया है कि सिद्ध क्षायिक लब्धि से होता है । इस अनुयोगद्वार में 91 सूत्र हैं ।

2. एक जीव की अपेक्षा कालानुगम – इसमें 216 सूत्र हैं जिनमें नरकगति आदि जीवों की आयु का वर्णन है। जीवट्ठाण में भी विषय यही है पर अन्तर यह है कि जीवट्ठाण में काल का कथन गुणस्थान की अपेक्षा से किया गया है जबकि यहां काल का कथन मार्गणा स्थानों की अपेक्षा से किया गया है।

3. एक जीव की अपेक्षा अन्तरानुगम – इसमें 151 सूत्र हैं जिनमें मार्गणाओं में अपने अपने अवान्तर भेदों के साथ एक जीव की अपेक्षा अन्तर की प्ररूपणा की गई है । जैसे नरकगति में नारकी जीव का अन्तर कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाणकाल है ।

4. नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय – इसमें 23 सूत्र हैं । इनमें बताया गया है कि मार्गणाओं में जीव नियम से कहां विद्यमान रहते हैं और कहां नहीं रहते । उनके अस्तित्व और नास्तित्व की चर्चा यहां की गई है।

5. द्रव्यप्रमाणानुगम – इसमें 171 सूत्र हैं जिनमें चौदह मार्गणाओं में पाये जाने वाले जीवों की संख्या का विवेचन अलग–अलग किया गया है ।

6. क्षेत्रानुगम – इसमें 124 सूत्र हैं जिनमें मार्गणा स्थानों की अपेक्षा से वर्तमान जीवों के वर्तमान क्षेत्र की प्ररूपणा स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद इन पदों के माध्यम से की गई है ।

7. स्पर्शनानुगम – इसमें 279 सूत्र हैं जिनमें मार्गणाओं में जीवों के वर्तमान के साथ ही अतीत व अनागत काल के क्षेत्र का कथन भी किया गया है ।

8. नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम – इसमें 55 सूत्र हैं । इनमें नाना जीवों की अपेक्षा मार्गणाओं में जीवों के काल का कथन है ।

9. नाना जीवों की अपेक्षा अन्तरानुगम – इसमें 68 सूत्र हैं । यहां मार्गणाओं में नाना जीवों की अपेक्षा यथाक्रम अन्तर की प्ररूपणा की गई है ।

10. भागाभागानुगम – इसमें 88 सूत्र हैं । इनमें मार्गणाओं में नारकी आदि जीव सब जीवों के कितनेवें भाग हैं इसका विवेचन किया गया है ।

11. अल्पबहुत्वानुगम – इसमें 205 सूत्र हैं । इनमें मार्गणाओं में जीवों की हीनाधिकता पर विचार किया गया है ।

इसके बाद महादण्डक चूलिका है जिसमें मार्गणा रहित अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है तथा अनुयोगों से अवशिष्ट विषय को सूचित किया गया है । इसमें 79 सूत्र हैं ।

इस प्रकार यह क्षुन्द्रकबन्ध नामक द्वितीय खण्ड तेरह अधिकारों और 1589 सूत्रों में समाप्त हो जाता है । यह भाग षड्खण्डागम के सातवें भाग के रूप में प्रकाशित है ।

9. तृतीय खण्ड : बन्ध स्वामित्व विचय

षट्खण्डागम का यह तृतीय खण्ड है जिसमें समस्त सूत्र 324 हैं । इसमें बन्धक के स्वामियों का विचार किया गया है ओघ और आदेश क्रम से । इसका आधार है छठे अनुयोग द्वार का बन्धस्वामित्व अनुयोगद्वार। इसमें चौदह जीवसमास अर्थात् गुणस्थानों का निर्देश है जिसके आश्रय से प्रकृतियों के बन्धव्युच्छित्ति की प्ररूपणा की गई है ।

ओघप्ररूपणा में चौदह जीवसमासों (गुणस्थानों) के नामों का उल्लेख है तीसरे सूत्र में । मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगों के द्वारा जीव और कर्मों के सम्बन्ध को बन्ध कहा जाता है । यहां बन्ध के स्वामित्व के विषय में विचय अर्थात् विचारणा की गई है । आगे उनके प्रकृतिबन्ध व्युच्छेद का कथन किया गया है । किस–किस गुणस्थान में कौन–कौन कर्म बन्धते हैं और कौन–कौन कर्म नहीं बंधते हैं इसे स्पष्ट किया गया है । इस सन्दर्भ में आचार्य ने 23 पृच्छाओं का उद्भावन कर उनका समाधान किया है । ओघाश्रित यह प्रकरण 38 सूत्रों में समाप्त हो जाता है । प्रसंगवशात् यहीं तीर्थंकर प्रकृति के 16 कारणों का भी उल्लेख है पांच सूत्रों में (39–43) ।

इसके बाद आदेश की अपेक्षा से चौदह मार्गणाओं में बन्धक–अबन्धक की प्ररूपणा की गई है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि सामान्य से नरकगति में 101 (70 + 25 + 4 + 1 + 1) प्रकृतियों का बन्ध होता है । उनमें से मिथ्यात्व गुणस्थान में 100 प्रकृतियां ही बन्धती हैं, तीर्थंकर के बन्ध नहीं होता तथा सासादन में 96 प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। षट्खण्डागम की आठवीं पुस्तक में यह प्रकरण प्रकाशित हुआ है ।

10. चतुर्थ खण्ड : वेदना

इस खण्ड के प्रारम्भ में आचार्य भूतबली ने 44 सूत्रों से मंगलाचरण किया है । प्रारम्भिक जीवट्ठाण में पुष्पदन्त ने मंगलाचरण किया था । अतः षट्खण्डागम का यह द्वितीय भाग है । इसमें महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के चौबीस अनुयोगद्वारों मे से प्रथम दो अनुयोगद्वारों का वर्णन हुआ है कृति और वेदना । इनमें वेदना का प्राधान्य होने से इस खण्ड का नाम वेदना रखा गया है ।

1) कृति अनुयोगद्वार – इसके प्रारम्भ में भूतबली ने सर्वप्रथम ''णमो जिणाणं'', ''णमो ओहिजिणाणं'', ''णमो बद्धमाणरिसिस्स'' आदि कहकर जिनों को नमस्कार किया है । इसके बाद कृति अनुयोगद्वार की सात प्रकार से मीमांसा की गई है – नाम, स्थापना, द्रव्य, गणना, ग्रन्थ, करण और भाव कृति (सूत्र 46)। आगे कौन नय किन कृतियों को स्वीकार करता है इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि नैगम, व्यवहार और संग्रह ये तीन नय सभी कृतियों को विषय करते हैं । ऋजुसूत्रनय स्थापना को स्वीकार नहीं करता और शब्दादि नय नामकृति और भावकृति को स्वीकार करते हैं (सूत्र 47–50) ।

1) जीव या अजीव का 'कृति' नाम रखा जाना नामकृति है ।

2) काष्ठ, चित्र आदि कर्म में 'यह कृति है' इस प्रकार की स्थापना करना स्थापना कृति है । मूर्तियों आदि की स्थापना तदाकार कृति है और अक्ष, कौडी आदि में कृति की स्थापना करना अतदाकार स्थापना कृति है।

3) द्रव्यकृति दो प्रकार की है – आगम द्रव्यकृति और नोआगम द्रव्यकृति । आगम द्रव्यकृति के अधिकार हैं – स्थित, जित, परिचित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्धसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम । इन सभी का विवेचन यहां किया गया है । इन अर्थाधिकारों सम्बन्धी उपयोग–भेदों का भी उल्लेख हुआ है – वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा आदि । इसी प्रसंग में गणनाकृति के अनेक भेद बतलाये हैं और ग्रन्थकृति के भी । इसी तरह शेष अन्य कृतियों पर भी प्रकाश डाला गया है । यह कृति अनुयोगद्वार 9 वीं पुस्तक में प्रकाशित हुआ है ।

2. वेदना अनुयोगद्वार – इस अधिकार में 16 अनुयोगद्वार हैं वेदनानिक्षेप, वेदनानय विभाषणता, वेदनानामविधान, वेदनाद्रव्यविधान, वेदना क्षेत्रविधान, वेदना काल विधान, वेदना

भावविधान, वेदना प्रत्ययविधान, वेदना अनन्तर विधान, वेदना संनिकर्ष विधान, वेदना परिमाण विधान, वेदना भागाभाग विधान और वेदना अल्पबहुत्व। इनके माध्यम से अष्ट कर्मों का विस्तार से सम्बद्ध विवेचन किया गया है ।

इन 16 अनुयोगद्वारों के आश्रय से यहां वेदना की प्ररूपणा इस प्रकार ही गई है –

1. वेदना निक्षेप – इसके चार भेद हैं – नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । इसमें निक्षेप व्यवस्था है ।

2. वेदना नय विभाषणता – इसमें कौन नय किन वेदनाओं को स्वीकार करता है इसको स्पष्ट किया गया है। सभी व्यवहार नयाधीन हैं । निक्षेपों में नय योजना का कथन है ।

3. वेदनानामविधान – यहां बन्ध, उदय व सत्त्व स्वरूप नोआगम द्रव्य कर्मवेदना प्रकृत है । प्रकृतवेदना के और नाम के विधान की प्ररूपणा करना इस अनुयोगद्वार का प्रयोजन है । तदनुसार नैगम व्यवहारनय की अपेक्षा उक्त वेदना के आठ भेद हैं – ज्ञानावरणीय वेदना, दर्शनावरणीय वेदना आदि । ये भेद आठों कर्मों की वेदना के अनुसार आठ हैं । संग्रहनय की अपेक्षा आठों कर्मों की एक वेदना है और उदयागत वेदनीयकर्म ही वेदना है । शब्दनय की अपेक्षा 'वेदना' ही वेदना है ।

4. वेदना द्रव्य विधान – इसमें वेदना रूप द्रव्य के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य पदों की प्ररूपणा की गई है । इसी की प्ररूपणा में इन तीन अनुयोगद्वारों को जानना आवश्यक माना गया है – पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व ।

चूलिका

इसके बाद धवलाकार की दृष्टि से वेदना अधिकार का चूलिका भाग प्रारम्भ होता है जिसमें सूत्र के विशेषार्थ को प्रकाशित किया गया है । यहां योगाल्पबहुत्व और प्रदेश अल्पबहुत्व की विशेष प्ररूपणा की गई है । योगस्थान प्ररूपणा में दस अनुयोगद्वार हैं – अविभागप्रतिच्छेद, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, स्थान, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, बुद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

अन्तिम सूत्र में यह कहा गया है कि प्रदेशबन्ध के कारण योगस्थान ही हैं । इसलिए वेदना में योगस्थान और उनकी वर्गणा आदि का कथन किया गया है । यहां तक षट्खण्डागम की दसवीं पुस्तक में प्रकाशित है ।

5. वेदना क्षेत्र विधान – इसमें भी तीन अनुयोगद्वार हैं – पद मीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व। यहां ज्ञानावरणीय कर्म की क्षेत्र, स्वामित्व और अल्पबहुत्व की दृष्टि से वेदना उत्कृष्ट भी है जघन्य भी है और अजघन्य भी है ।

6. वेदना काल विधान – इसमें भी पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व नाम के वे ही तीन अनुयोगद्वार हैं जिनमें काल की अपेक्षा ज्ञानावरणादि कर्मों पर विचार किया गया है ।

चूलिका

इसके बाद वेदना काल विधान की दो चूलिकाओं का क्रम आता है । जिनमें सूत्रों का विशेषार्थ का विवेचन है । प्रथम चूलिका की प्रारम्भिक दो गाथाओं में असंख्यात गुणी निर्जरा की बात कही गई है । यहां मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध के चार अनुयोगद्वार बताये गये हैं – स्थितिबन्धस्थान प्ररूपणा, निषेक प्ररूपणा, आबाधा काण्डक प्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

कालविधान की दूसरी चूलिका में तीन अनुयोगद्वार हैं – जीवसमुदाहार, प्रकृतिसमुदाहार और स्थितिसमुदाहार। जीवसमुदाहार में साता – असाता वेदनीय की एक–एक स्थिति में इतने–इतने जीव हैं, इत्यादि का विचार किया गया है । प्रकृति समुदाहार में कर्मों के स्थितिबन्धाध्यवसानों का प्रमाण और उनकी हीनाधिकता को स्पष्ट किया गया है । तथा स्थिति समुदाहार में बन्ध के कारणभूत अध्यवसानों की गणना, समानता, असमानता, हीनाधिकता आदि पर विचार किया गया है।

चूलिका

7. वेदना भावविधान – इसमें भी तीन अनुयोगद्वार हैं – पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व। पदमीमांसा में भाव की अपेक्षा ज्ञानावरणीयादि वेदनाओं की उत्कृष्टता, अनुत्कृष्टता, आदि की स्वामित्व में स्वामित्व की और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में उनकी हीनाधिकता की प्ररूपणा की गई है । इसी विषय को गाथासूत्रों द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

इसके बाद वेदना भाव विधान से संबद्ध तीन चूलिकाएँ हैं । प्रथम चूलिका में दो गाथाओं और गद्यसूत्रों द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति, दर्शनमोह के क्षपक आदि की निर्जरा और विपरीत क्रम से उस निर्जरा के संख्यातगुणे काल की प्ररूपणा की गई है । क्षेत्र विधान और कालविधान पुस्तक 11 में प्रकाशित है ।

दूसरी चूलिका में अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान की प्ररूपणा बारह अनुयोगद्वारों के द्वारा की गई है। ये बारह अनुयोगद्वार इस प्रकार हैं – अविभागी प्रतिच्छेद प्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, काण्डप्ररूपणा, ओजयुग्मप्ररूपणा, षट्स्थानप्ररूपणा, अधस्तनस्थानप्ररूपणा, समयप्ररूपणा, बुद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, पर्यवसान प्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा। इनका यहां विस्तार से विवेचन किया गया है।

तीसरी चूलिका में जीवसमुदाहार का कथन है । इसमें जीव के सदृश, विसदृश आदि रूपों पर प्रकाश डाला गया है । इसमें आठ अनुयोगद्वार हैं – एकस्थान जीवप्रमाणानुगम, निरन्तरस्थान जीवप्रमाणानुगम, सान्तरस्थान जीवप्रमाणानुगम, नानाजीवकालप्रमाणानुगम, बुद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा और अल्पबहुत्व । इन सभी अनुयोगद्वारों के

विषय में मूल ग्रन्थ देखिए ।

8. वेदना प्रत्यय विधान – इस अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मवेदनाओं के प्रत्ययों (कारणों) पर विभिन्न नयों की दृष्टि से विचार किया गया है, जैसे प्राणातिपात, मृषावाद, क्रोध, मान, रति, अरति, मिथ्याज्ञान आदि। इसमें 16 सूत्र हैं ।

9. वेदना स्वामित्व विधान – इस अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय आदि कर्मवेदनाओं के स्वामी के विषय में नयों के आधार पर विचार किया गया है । इसमें भी 15 सूत्र हैं ।

10. वेदना वेदना विधान – इसमें प्रथम वेदना शब्द का अर्थ वेदन है, दूसरे वेदना शब्द का अर्थ अनुभवन है और विधान का अर्थ प्ररूपण है । इस तरह इस अनुयोगद्वार में वध्यमान, उदीर्ण और उपशान्त कर्मवेदनाओं की प्ररूपणा नैगमादि नयों के आश्रय से की गई है । इसमें 58 सूत्र हैं ।

11. वेदना गति विधान – यहां वेदना का अर्थ कर्मस्कन्ध है । तदनुसार इस अनुयोगद्वार में राग द्वेषादि के वश जीव प्रदेशों का संचार होने पर उनसे संबद्ध कर्मस्कन्धों का भी उनके साथ गमन या संचार (गति) होता है । इसी का विवेचन यहां नयाधार पर किया गया है । इसमें 12 सूत्र हैं ।

12. वेदना अनन्तरविधान – पूर्व वेदनावेदना विधान अनुयोगद्वार में बध्यमान, उदीर्ण और उपशान्त इन तीन अवस्थाओं को वेदना कहा गया है । उनमें बध्यमान कर्म बंधने के समय में ही विपाक को प्राप्त होकर फल देता है । इसका स्पष्टीकरण नयादि के माध्यम से इस अनुयोगद्वार में किया गया है । इसमें 11 सूत्र हैं ।

13. वेदना संनिकर्ष विधान – सन्निकर्ष का तात्पर्य है – द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों में से क्या उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, है इसकी परीक्षा करना । इसके दो भेद हैं स्वस्थान वेदनासंनिकर्ष जिसमें एक कर्म की एतद् विषयक परीक्षा होती है और परस्थान वेदना संनिकर्ष जिसमें आठों कर्म विषयक परीक्षा होती है । इसमें 320 सूत्र हैं ।

14. वेदना परिमाण विधान – इसमें तीन अनुयोगद्वार हैं – प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास । प्रकृति का अर्थ है स्वभाव या शक्ति । प्रकृत्यर्थता में कर्मों की शक्ति के प्रमाण की चर्चा की गई है । अन्य अनुयोगों में उनके समय और क्षेत्र पर विचार किया गया है । इसमें 53 सूत्र हैं।

15. वेदना भागाभागविधान – इसमें भी पूर्ववत् तीन अनुयोगद्वार हैं जिनमें विवक्षित कर्मप्रकृतियां सब प्रकृतियों के कितने वें भाग प्रमाण हैं, इसे स्पष्ट किया गया है । इसमें 21 सूत्र हैं ।

16. वेदना अल्पबहुत्व – यहां भी पूर्ववत् तीन अनुयोगद्वारों के माध्यम से प्रकृतियों के

अल्पबहुत्व को स्पष्ट किया गया है । इसमें 26 सूत्र हैं ।

पूर्वोक्त वेदना भावविधान आदि अल्पबहुत्व पर्यन्त (7–16) अनुयोगद्वार 12 वीं पुस्तक में प्रकाशित हैं ।

11. पंचम खण्डः वर्गणा

इस अनुयोग द्वार में बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान इन चार अधिकारों में से बन्ध और बन्धनीय ये दो अधिकार समाविष्ट हैं । इनमें बन्धनीय वर्गणाओं की प्ररूपणा के विस्तार होने से इस खण्ड का नाम 'वर्गणा' हुआ है । इसमें स्पर्श, कर्म व प्रकृति पर विचार किया गया है ।

1. स्पर्श – इसमें 16 अनुयोगद्वार हैं – स्पर्श निक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनामविधान, स्पर्शद्रव्यविधान, स्पर्शक्षेत्रविधान, स्पर्शकालविधान, स्पर्शभावविधान, स्पर्शप्रत्यय विधान, स्पर्शस्वामित्वविधान, स्पर्शस्पर्शविधान, स्पर्श–गतिविधान, स्पर्शअनन्तरविधान, स्पर्शसन्निकर्षविधान, स्पर्शपरिमाणविधान, स्पर्शभागाभागविधान और स्पर्शअल्पबहुत्व। इन अनुयोगद्वारों में उनके आधार पर स्पर्श आदि की प्ररूपणा की गई है । इनमें स्पर्श के 13 भेदों का कथन है – नाम, स्थापना, द्रव्य, एक क्षेत्र, अनन्तरक्षेत्र, देश, त्वक्, सर्व, स्पर्श स्पर्श, कर्म स्पर्श, बन्धस्पर्श, भव्यस्पर्श और भावस्पर्श । इसमें 13 सूत्र हैं ।

2. कर्म – इसमें भी पूर्ववत् 16 अनुयोगद्वार हैं । कर्म निक्षेप के दस भेद हैं – नाम, स्थापना, द्रव्य, प्रयोग, समवदान, अधःकर्म, ईर्यापथ, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म । इनमें समवदान कर्म पर विशेष विस्तृत विवेचन हुआ है । इसमें 31 सूत्र हैं । 31 वें सूत्र की धवला टीका में वीरसेन ने कहा है कि मूलतन्त्र में तो प्रयोग कर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथःकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्म इन छह कर्मों की प्रधानता है। इन्हीं की विस्तारसे प्ररूपणा की गई है। फिर उन्होंने भी इन छह कर्मों की सत्, संख्या आदि आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से विस्तृत प्ररूपणा की है ।

3. प्रकृति – इस अनुयोगद्वार में भी पूर्ववत् 16 अनुयोगद्वारों के माध्यम से कौन नय किन कर्म प्रकृतियों को विषय करता है, इसका विचार किया गया है । उदाहरणार्थ – नैगम, व्यवहार और संग्रह ये तीन नय उन नामादि रूप चारों प्रकृतियों को विषय करते हैं । ऋजुसूत्रनय स्थापना प्रकृति को और शब्दनय नामप्रकृति और भावप्रकृति को विषय करता है । इसी प्रसंग में यहां आभिनिबोधक ज्ञानावरणीय के अनेक प्रकार से भेद करते हुए 384 भेदों को स्पष्ट किया गया है।

इसी तरह श्रुतज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियों का विश्लेषण करते हुए अक्षर, संख्या आदि पर विचार करते हुए उसकी बीस प्रकार की प्ररूपणाओं का कथन किया गया – पर्यायावरणीय, पर्यायसमासावरणीय, अक्षरावरणीय, अक्षरसमासावरणीय, पदावरणीय, पदसमासावरणीय, संघातावरणीय, संघातसमासावरणीय, प्रतिपत्तिआवरणीय,

प्रतिपत्तिसमासावरणीय, अनुयोगद्वारावरणीय, अनुयोगद्वारसमासावरणीय, प्राभृतप्राभृतावरणीय, प्राभृतप्राभृतसमासावरणीय, प्राभृतावरणीय, प्राभृतसमासावरणीय, वस्तुआवरणीय, वस्तुसमासावरणीय, पूर्वावरणीय और पूर्वसमासावरणीय (47–48) । इसी प्रसंग में श्रुतज्ञान के 41 पर्यायार्थक शब्दों का भी उल्लेख मिलता है ।

अवधिज्ञानावरणीय की असंख्यात प्रकृतियां होती हैं । यहां उसके भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय भेदों का सांगोपांग विवेचन है । इसी क्रम में मनःपर्यय और केवलज्ञान का भी विवेचन हुआ है । केवलज्ञानावरणीय कर्म की एक ही प्रकृति है ।

आगे क्रम से दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय और आयुकर्म की उत्तरप्रकृतियों का नाम निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् नामकर्म की 42 प्रकृतियों की विवेचना है । फिर गोत्र और अन्तराय कर्म की प्रकृतियों का भी वर्णन करते हुए आगमभाव और नोआगम भाव प्रकृति की विवेचना करते हुए भावप्रकृति की प्ररूपणा की गई है ।

इस प्रकार वर्गणा खण्ड में स्पर्श, कर्म और प्रकृति ये तीन अनुयोगद्वार 13 वीं पुस्तक में प्रकाशित हुए हैं ।

12. बन्धन अनुयोगद्वार

1. बन्ध – इस अनुयोगद्वार में बन्धन की व्याख्या चार प्रकार से की गई है – बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान । बन्धन ही बन्ध है । इसके चार भेद हैं – नाम, स्थापना, द्रव्य और भावबन्ध । नयादि दृष्टि से इनकी विवेचना करते हुए नोआगम भावबन्ध के दो भेद बताये हैं – जीव भावबन्ध और अजीव भावबन्ध । विभिन्न कर्मों के उदय से ये जीव भावबन्ध होते हैं । अजीव भावबन्ध में वर्णों आदि का संयोग या समवाय रूप सम्बन्ध होता है । आगे, द्रव्यबन्ध की प्ररूपणा विस्रसाबन्ध और प्रयोगबन्ध और उनके भेदों के आधार पर की गई है । विस्रसाबन्ध के आदि और अनादि जैसे भेद हैं और प्रयोग बन्ध पांच प्रकार का है – आलपन, अल्लीवन, संश्लेष, शरीरबन्ध और शरीरीबन्ध ।

2. बन्धक – बन्धक जीव है । उन बन्धक जीवों की प्ररूपणा क्षुद्रकबन्ध नामके दूसरे खण्ड में 'एक जीव की अपक्षा स्वामित्व' आदि ग्यारह अनुयोगद्वारों में विस्तार से की गई है ।

3. बन्धनीय अनुयोगद्वार – बन्धनीय का तात्पर्य है जो वेदन या अनुभवन किया जाता है । इसका सम्बन्ध यहां वर्गणा से है जिसकी संख्या 23 है । प्रारम्भ में इसके आठ अनुयोगद्वार बताये हैं। उनमें प्रथम वर्गणा के 16 अनुयोगद्वार हैं – वर्गणानिक्षेप, वर्गणानयविभाषणता, वर्गणाप्ररूपणा, वर्गणानिरूपणा, वर्गणाध्रुवा–ध्रुवानुगम, वर्गणासान्तरनिरन्तरानुगम, वर्गणाओज युग्मानुगम, वर्गणाक्षेत्रानुगम, वर्गणास्पर्शनानुगम, वर्गणाकालानुगम, वर्गणा–अन्तरानुगम, वर्गणाभावानुगम, वर्गणा–उपनयनानुगम, वर्गणापरिमाणानुगम, वर्गणाभागाभागानुगम और वर्गणा–अल्पबहुत्व

(69–70) । वर्गणा भी अभ्यन्तर और बाह्य के भेद से को प्रकार की है ।

वर्गणा प्ररूपणा की संख्या 23 है – (1) एकप्रदेशिक परमाणु–पुद्गलवर्गणा, द्विप्रदेशिक परमाणुपुद्गलवर्गणा, इसी प्रकार त्रिप्रदेशिक, चतुःप्रदेशिक आदि (2) संख्यातप्रदेशिक, (3) असंख्यात प्रदेशिक, परीतप्रदेशिक, अपरीतप्रदेशिक, (4) अनन्तप्रदेशिक, अनन्तानन्त प्रदेशिक परमाणुपुद्गलवर्गणा, अनन्तानन्तप्रदेशिक वर्गणाओं के आगे, (5) आहारद्रव्यवर्गणा, (6) अग्रहण वर्गणा, (7) तैजसद्रव्यवर्गणा, (8) अग्रहणद्रव्यवर्गणा, (9) भाषावर्गणा, (10) अग्रहणद्रव्य–वर्गणा, (11) मनोद्रव्यवर्गणा, (12) अग्रहणद्रव्यवर्गणा, (13) कार्मणद्रव्यवर्गणा, (14) ध्रुवस्कन्धवर्गणा, (15) सान्तरनिरन्तर द्रव्यवर्गणा, (16) ध्रुवशून्यवर्गणा, (17) प्रत्येकशरीरद्रव्यवर्गणा, (18) ध्रुवशून्यद्रव्यवर्गणा, (19) बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा, (20) ध्रुवशून्य वर्गणा, (21) सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, (22) ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा और (23) महास्कन्धवर्गणा; इन वर्गणाओं का उल्लेख किया गया है (76–17)। इसके बाद वर्गणानिरूपणा को स्पष्ट किया गया है । शेष बारह अनुयोग द्वारों की प्ररूपणा मूल ग्रन्थ कर्ता ने नहीं की है । धवलाकार ने अवश्य उनकी प्ररूपणा की है । यहीं अभ्यन्तर वर्गणा समाप्त हो जाती है।

पांच शरीरों की बाह्य वर्गणा का विवेचन आगे चार अनुयोग द्वारों के माध्यम से किया गया है–

1. शरीरशरीरप्ररूपणा – शरीर का अर्थ जीव है । इसमें साधारण (वनस्पति कायिक) और प्रत्येक शरीर जीवों की विस्तृत विवेचना की गई है । यहां वनस्पति कायिकों से निगोद जीवों के भेद–अभेद का प्रासंगिक विचार कर निगोद जीवों के लक्षण आदि पर विचार किया गया है ।

2. शरीर प्ररूपणा – इसमें छह अनुयोगद्वार हैं – नाम निरुक्ति, प्रदेशप्रमाणानुगम, निषेक प्ररूपणा, गुणाकार, पदमीमांसा और अल्पबहुत्व । इनके माध्यम से पांचों शरीरों के विषय में अच्छी चर्चा की गई है।

3. शरीर विस्रसोपचय प्ररूपणा – इसके भी छह अनुयोगद्वार हैं – अविभाग प्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणा प्ररूपणा, स्पर्धक प्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, शरीर प्ररूपणा और अल्प बहुत्व । इसमें स्निग्ध और रूक्ष गुणों की तथा औदारिक आदि शरीरों की यहां प्ररूपणा की गई है ।

4. विस्रसोपचय प्ररूपणा – जीव से रहित हुए उन्हीं पर अणुओं के विस्रसोपचय की प्ररूपणा की गई है ।

इसके बाद चूलिका अंग शुरू हो जाता है । यहां चार अनुयोगद्वारों से इसका और भी विवेचन किया गया है। बन्ध विधान इसके बाद बन्धविधान नामक चतुर्थ अनुयोग द्वार का

विवेचन प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के माध्यम से किया गया है ।

यहीं पांचवां वर्गणाखण्ड समाप्त हो जाता है । इसमें कुल सूत्रसंख्या 6819 और गाथासंख्या 27 है। यह भाग 14 वीं पुस्तक में प्रकाशित है । इसके बाद महाबन्ध नामक छठा खण्ड प्रारम्भ होता है ।

6. षष्ठ महाबन्ध खण्ड

बन्धनीय अधिकार के बाद प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध का विवेचन इस छठे खण्ड में हुआ है । यह विवेचन प्रकृतिसमुत्कीर्तन, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, सादिबन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध, अध्रुव बन्ध आदि चौबीस अनुयोगद्वारों के माध्यम से किया गया है । आकार में विशाल होने के कारण इस ग्रन्थ को स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा मान लिया गया है । इसलिए हमने भी इसे पृथक् भाग में ही संयोजित किया है । वहीं इसके विषय में विस्तार से लिखा गया है ।

13. गाथासूत्र

षड्खण्डागम में गद्य सूत्रों के अतिरिक्त कुछ गाथासूत्र भी हैं जिनकी संख्या वेदनाखण्ड में 5 और वर्गणाखण्ड में 28 हैं –

1. वेदनाखण्ड के वेदना भावविधान अनुयोगद्वार में उत्तरप्रकृतियों के अनुभाग सम्बन्धी अल्पबहुत्व की प्ररूपणाकारक 3 गाथासूत्रों और 52 सूत्रों द्वारा उन गाथाओं के पदों का विवरण दिया गया है उदाहरणार्थ –

''सादं जसुच्च दे कं ते आ वे मणु अणंतगुणहीणा ।
ओ मिच्छ के असादं वीरिय अणंताणु संजलणा ।।1।।''

इसके एक–एक पद को लेकर भूतबलि ने 19 सूत्रों की रचना की और उन पदों को स्पष्ट किया। संभव है, समूचा महाकम्मपयडि इसी प्रकार की संकेतात्मक भाषा में रहा हो जिसे धरसेन ने पुष्पदन्त–भूतबलि को पढाया था । ये गाथासूत्र परम्परागत रहे होंगे जिनका व्याख्यान आचार्य धरसेन ने अपने शिष्यों को किया । जो गाथाएँ दुष्प्रवेश्य या दुर्बोध्य थीं उनका तो उन्होंने व्याख्यान कर दिया पर जो सरल और सुबोध थीं उन्हें यथावत् रहने दिया । ऐसी सरल गाथाएँ षड्खण्डागम में व्याख्या के बिना ही संमिलित कर दी गईं। जैसे प्रकृति, अनुयोगद्वार में अवधिज्ञान का वर्णन करने वाली 15 गाथाएँ। इसी तरह 1 से 3 गाथाओं पर 52 सूत्र, 4 से 6 गाथाओं पर 56 सूत्र, तथा 7 से 8 गाथाओं पर 22 सूत्रों की रचना की गई ।

इन सूत्रों को धवलाकार ने चूर्णिसूत्रों की संज्ञा दी है । इसी तरह उन्होंने कसायपाहुड की गाथाओं पर रचे गये सूत्रों को भी चूर्णिसूत्र ही कहा है । कहीं कहीं उन्होंने इसके लिए 'विहासा' शब्द का भी प्रयोग किया है। षड्खण्डागम में समागत ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जो

प्राकृत पंचसंग्रह, गोमट्टसार जीवकाण्ड कर्मकाण्ड और श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में उद्धृत हुई हैं। इसलिए इस तथ्य की संभावना बढ जाती है कि ये गाथाएँ परम्परागत रही हैं जो संघभेद के पूर्व से ही चली आ रही थीं और जिन्हें उत्तरकालीन आचार्यों ने अपने–अपने ग्रन्थों में समाविष्ट कर लिया ।

षड्खण्डागम में समागत ऐसी सूत्रगाथाओं का विवरण इस प्रकार है –

क्रमांक	षट्खण्डागम	अन्यग्रन्थ–स्थल
7.	सम्मत्तुप्पत्ती विय	कम्मपयडी उदय. गा. 8 पत्र 8 गो. जीवकांड. गा. 66
8.	खवए य खीणमोहे	कम्मपयडी उदय. गा. 9 पत्र 8 गो. जीवकांड गा. 67
11.	संजोगावरणट्ठं	
12.	पज्जय–अक्खर–पद	गो. जीवकांड, गा. 317 उत्तरार्ध पाठभेद
13.	ओगाहणा जहण्णा	
14.	अंगुलमावलियाए	गो. जीवकांड गा. 404
15.	आवलियपुधत्तं	गो. जीवकांड गा. 405
16.	भरहम्मि अद्धमासं	गो. जीवकांड गा. 406
17.	संखेज्जदिमे काले	गो. जीवकांड गा. 407
18.	कालो चदुण्ह वुड्ढी	गो. जीवकांड गा. 412
19.	तेया–कम्मसरीरं	
20.	पणुवीस जोयणाणं	गो. जीवकांड गा. 426
21.	असुराणमसंखेज्जा	गो. जीवकांड गा. 427
22.	सक्कीसाणा पढमं	मूलाराधना गा. 1148
23.	आणद–पाणदवासी	गो. जीवकांड गा. 430
24.	सव्वं च लोगणालिं	गो. जीवकांड गा. 431
25.	परमोहि असंखेज्जाणि	
26.	तेयासरीरलंबो	

27.	उक्कस्स माणुसेसु य	
28.	णिद्धणिद्धा ण बज्झंति	गो. जीवकांड गा. 612
29.	णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण	गो. जीवकांड गा. 615
30.	साहारणमाहारो	गो. जीवकांड गा. 192
31.	एयस्स अणुग्गहणं	
32.	समगं वकंताणं	
33.	जत्थेउ मरइ जीवो	गो. जीवकांड गा. 193
34.	बादर सुहुमणिगोदा	
35.	अत्थि अणंता जीवा	गो. जीवकांड गा. 197
36.	एगणिगोदसरीरे	गो. जीवकांड गा. 196

14. षट्खण्डागम में कर्मसिद्धान्त

कर्मवाद में कर्म स्वयं का कर्तृत्व है, सृजन है और आत्मा की स्वतन्त्रता को उद्घोषित कर व्यक्ति को सत्कर्मों की ओर उन्मुख करना उसका लक्ष्य है । अविद्या, मोह, हिंसा और अज्ञान के कारण प्राणी आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता। कषायादि के कारण उसका ज्ञान–दर्शन स्वरूप आवृत हो जाता है और असत्कर्मों के कारण वह संसार–सागर में जन्म–मरण के चक्कर लगाता रहता है। जन्म–मरण के इस चक्कर से मुक्त होने के लिए वह त्याग तपस्या करता है, कर्मों की निर्जरा करता है और परम वीतरागता को पाने का प्रयत्न करता है । इसलिए कर्मवाद भी अहिंसा का ही विस्तार है । षड्खण्डागम की यही पृष्ठभूमि है ।

ईश्वरवाद और कर्मवाद

आत्मा और कर्म की इस लम्बी यात्रा में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, ईश्वरवाद, पुरुषार्थवाद आदि अनेक सिद्धान्तों ने व्यक्ति को इन दुःखों से बचाने के लिए पहल की । उन्होंने ईश्वर की कल्पना कर उसके हाथ में अपने जीवन की बागडोर भी सम्हाल दी पर निष्पक्षता और व्यावहारिक स्तर पर खडे होकर सोचने पर व्यक्ति को यह लगा कि इन सभी वादों का समन्वय ही समस्या का निदान है। शुभाशुभ कर्मों के फलदाता के रूप में ईश्वर विशेष की आवश्यकता नहीं, बल्कि यह काम उसके कर्म स्वयं ही स्वभावतः कर डालते हैं । कर्तृत्व और भोक्तृत्व के बीच ईश्वर जैसी किसी शक्ति विशेष को बीच में लाने की कोई जरूरत ही नहीं । कर्म का कर्ता ही इसके लिए उत्तरदायी है । यह जैन दर्शन की मान्यता है ।

संसार में प्राणी–प्राणी के बीच जो यह विचित्रता और विभिन्नता दिखाई देती है उसकी पृष्ठभूमि में कर्म की प्रबलता ही मुख्य कारण है । कार्य–कारण का नियम भी इससे सम्बद्ध है । वेदान्त में अविद्या सांख्य में प्रकृति–विकार बौद्धदर्शन में वासना, नैयायिकों में अपूर्व, द्वैतवादियों में माया, न्याय वैशेषिकों में अदृष्ट का जो स्थान है वही स्थान जैनधर्म में कर्म का है । इनमें प्रवर्तक परम्परा स्वर्गवादी है और निवर्तक परम्परा ने मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाया है। परिणामवादी जैनदर्शन कर्म को चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतनधर्म मानते हैं और प्रधानवादी उसे जडधर्म कहते हैं ।

जैनदर्शन का यह कर्म सिद्धान्त पालि साहित्य में भलीभांति उद्धृत हुआ है । महावीर ने वहां स्वयं को क्रियावादी कहकर कर्म के महत्त्व को स्पष्ट किया है । अंगुत्तरनिकाय में महावीर ने स्वयं को क्रियावादी कहा है और वहीं वप्प श्रावक ने उनके कर्माश्रव और कर्म निर्जरा के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है जिससे जैन कर्मसिद्धान्त की प्राचीनता स्पष्टतः सिद्ध होती है । तदनुसार कर्म पौद्गलिक और वैभाविक है और कर्म परमाणुओं की वर्गणा श्रेणी भी अलग–अलग होती है ।

मिथ्यादर्शनादि के कारण जीव कर्मों से बंध जाता है । जिसे बंध अवस्था कहा जाता है यथासमय उन कर्मों का परिपाक होता है जिसे सत्अवस्था कहा जाता है और जब उनका फल मिलने लगता है तो उसे उदयावस्था माना जाता है । इन्हीं अवस्थाओं को जैनेतर दर्शनों में क्रमशः कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध अवस्थायें कहा गया है । कर्म–परमाणु जीव के साथ स्वतः सम्बन्ध स्थापित नहीं करते बल्कि जीव अपने शुभ–अशुभ भावों के माध्यम से उन कर्म–परमाणुओं को आकर्षित करता है । भावों की पवित्रता की तरतमता के आधार पर जीव और कर्म का यह बंधन गहरा होता है, कर्म परमाणु एकमेक हो जाते हैं । यद्यपि ये कर्म परमाणु समूचे लोकाकाश में व्याप्त हैं पर जीव के साथ वे ही बंधते हैं जो आत्म–प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाढ होते हैं ।

आत्मा और कर्म यद्यपि स्वतन्त्र द्रव्य हैं पर पदार्थों का निमित्त पाकर, कषायादि भावों के संयोजन से वैभाविक परिणति रूप कर्मों का आविर्भाव होता है । जीव अनादिकाल से उन्हीं कर्मों से बंधा है । पुद्गल द्रव्य की यह कार्माण वर्गणा राग–द्वेष युक्त जीव में प्रवेश करती है और उसके फलस्वरूप उसके ज्ञान–दर्शनादि गुण आवृत हो जाते हैं । यहां आत्मा के बंधन में कर्म मात्र निमित्त कारण हैं । कर्म और आत्मा का यह बंधन अनादि और सान्त है । जैसे अमूर्त ज्ञानादि गुणों पर मूर्त मदिरादि का प्रभाव पडता है वैसे ही अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म का प्रभाव पडता है। कर्मों के संयोग से यह जीवात्मा विभिन्न प्रकार की दशायें भोगती है । बाह्य निमित्तों का प्रभाव उतना अधिक नहीं होता जितना आन्तरिक भावों का । कर्म एक प्रकार से आत्मा के साथ चिपके हुए तथा सामर्थ्य संपन्न सूक्ष्म स्कन्ध हैं जिनका गहरा प्रभाव जीवन पर पडता है ।

कालवाद, नियतिवाद, स्वभाववाद, पुरुषार्थवाद, ईश्वरवाद, आदि वाद दार्शनिक क्षेत्र में व्यवहृत हैं। जैनदर्शन इनमें एकांगी रूप से किसी को स्वीकार नहीं करता । वह तो सभी को समन्वित रूप से कार्यकारी मानता है । वातावरण और परिस्थितियां उद्दीपक कारणों के रूप में रहती हैं । उनसे आत्मा में विभिन्न परिवर्तन आ जाते हैं । मात्र नियतिवाद भी सही नहीं हो सकता अन्यथा प्राणी निगोद से बाहर ही नहीं आ पाता । यह तो कर्मवाद की व्यापकता है कि वह ज्ञानदर्शन चरित्र के आधार पर, त्याग–तपस्या के बल पर कर्मों को समूल नष्ट कर निर्माण प्राप्त करने की बात करता है । व्यक्ति के स्वयं के पुरुषार्थ का यह फल है । ईश्वर इस कर्म फल को देने वाला नहीं है । कर्मफल तो स्वयमेव यथासमय प्राणी को मिलता है ।

कर्म के भेद – प्रभेद

कर्म के दो भेद हैं – द्रव्यकर्म और भावकर्म । जीव से संबद्ध पुद्गलकर्म द्रव्यकर्म है और उससे उत्पन्न होने वाले राग–द्वेषादि विकारी भाव भावकर्म हैं । द्रव्यकर्म के निमित्त से ही भावकर्म उत्पन्न होते हैं । एक अन्य प्रकार से कर्म आठ प्रकार के हैं – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय । ये कर्म आत्मा के ज्ञान–दर्शन स्वभाव पर आवरण डालते हैं । इनमें मोहनीय कर्म प्रबलतम माना गया है । ज्ञान और दर्शन पर आवरण करने वाले कर्म क्रमशः ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कहलाते हैं । आत्मशक्ति का प्रतिघात करने वाले कर्म अन्तराय कर्म हैं । ये चारों कर्म घातिया कर्म कहलाते हैं । जैसे–जैसे ये कर्म विनष्ट होते जाते हैं, आत्मगुणों का विकास वैसे–वैसे ही होता जाता है और अन्त में आत्मा अपने मूल स्वरूप रूप अनन्त शक्ति, आनन्द, सुख और दर्शन को प्राप्त कर लेता है । वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मों को अघातिया कहा जाता है। घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर इन अघातिया कर्मों की कोई विशेष शक्ति नहीं रह जाती । कर्मों के संपूर्ण क्षय से अनन्त आत्मिक आनन्द प्रगट हो जाता है ।

आश्रव और बन्ध व्यवस्था

आत्मा और कर्म का यह संयोग–बन्ध (प्रदेशबन्ध) कर्मों के मूल स्वभाव के आधार पर होता है (प्रकृतिबन्ध) और उसकी स्थिति कालमर्यादा के अनुसार होती है जो कर्म की फलदायक शक्ति पर आधारित है । ये कर्म आत्मप्रदेशों के साथ बंध जाते हैं और उन कर्म पुद्गलों में इसकी तीव्रता और मन्दता का निर्माण होता है जिसे अनुभाग बन्ध कहा जाता है । इन बन्धों में प्रकृतिबन्ध मुख्य है । जीवात्मा के साथ कर्म–पुद्गलों के सम्बन्ध को बद्ध अवस्था, परिपाक–काल को सत्ताकाल और सुख–दुःख रूप फल पाने को उदीयमान अवस्था कहा जाता है । इन्हीं अवस्थाओं को अन्य दर्शनों में क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध अवस्थायें कहा जाता है ।

आत्मा के साथ संयुक्त कर्म–योग्य परमाणु कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं । यही

आश्रव और बन्ध है । जब इन कर्मों का विनाश किया जाता है तब उसे संवर और निर्जरा कहा जाता है । कर्मों का यह आश्रव बंध और संवर–निर्जरण शरीर के माध्यम से होता है । इन कर्मों का बन्ध उनकी प्रगाढता के आधार पर होता है और उनका विपाक भी नियत होता है । उन्हें निकाचित कर्म कहा जाता है । इनका भोग अनिवार्य होता है । पर अनियत विपाकी कर्मों को प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त के माध्यम से निर्जीर्ण किया जाता है इससे नियतिवाद, यदृच्छावाद और ईश्वरवाद को अस्वीकार कर दिया गया है । यहां हमें दो विषयों पर विशेष विचार करना आवश्यक लग रहा है –

1. क्या मिथ्यात्व अकिंचित्कर है ?

सामान्यतः कर्मबन्धन के पांच कारण माने गये हैं – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। मात्र योग से जो ईर्यापथिक (शुद्ध) बन्ध होता है वह शिथिल और क्षणिक होता है । अविरति और प्रमाद भी कषाय जन्य होता है। अतः कर्मबन्ध के मूल कारण हैं कषाय और मिथ्यात्व । इनमें भी कौन मुख्य हैं यह विवाद का विषय है । कुछ विद्वान मानते हैं कि मिथ्यात्व अकिंचित्कर है और कषाय ही बन्धन का मुख्य कारण है । क्योंकि मिथ्यात्व भी कषाय से होता है । और कुछ यह मानते हैं कि मिथ्यात्व ही बन्धन का कारण है क्योंकि मिथ्यात्व से ही कषाय उत्पन्न होती है । वस्तुतः मिथ्यात्व और कषाय अन्योन्याश्रित है और बीज एवं वृक्ष की भांति इनमें से किसी को भी पूर्वतर नहीं कहा जा सकता।

पू. आचार्यश्री विद्यासागर जी ने 1986 में अपने प्रवचनों के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि मिथ्यात्व वस्तुतः स्थिति और अनुभागबंध में अकिंचित्कर है । इस पर भ्रमवश बडा विवाद फैल गया । धवला (पु. 12/291/15) में यह स्पष्ट कहा गया है कि योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है । मिथ्यात्व चारों प्रकार के बन्ध में कारण नहीं होता । वह संसार का मुख्य कारण अवश्य है पर अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय उसके साथ रहता है । द्वितीय गुणस्थान में मिथ्यात्व नहीं रहता । वहां से 12 वें गुणस्थान की संज्ञा क्षीणकषाय या 'एकदेश जिन' दी गई है (प्रवचनसार, 1/247) । मिथ्यात्व बन्ध का कारण है अवश्य पर वहां प्रकृति और प्रदेश बन्ध का बाहरी कारण योग है और अंतरंग कारण कषाय है । तीव्र कषाय के कारण ही मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोडाकोडी मानी जाती है । मिथ्यात्व स्वयं कुछ नहीं है ।

सभी कर्म अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं । वे दूसरे कर्मों के कार्यक्षेत्र में संक्रमण नहीं करते । दर्शनमोह (मिथ्यात्व) चारित्रमोह के लिए अकिंचित्कर है । इसी तरह से सभी कर्म एक दूसरे के लिए अकिंचित्कर हैं । 25 प्रकृतियों (16 कषाय और 9 नोकषाय) के बन्ध का कारण भी अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय ही है । वे प्रथम तथा द्वितीय गुणस्थान से आगे नहीं बंधती । पर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व 'इन तीन दर्शन मोहनीय को मिलाकर मोहनीय कर्म की 28 प्रकृतियों के उपशमन से अनन्तानुबन्धी कषायों (चारित्र मोहनीय) का उपशमन

भी होता है। अर्थात् कषाय की ही प्रधानता है ।

यह भी यहां उल्लेखनीय है कि समयसार (गा. 109/169) में कर्मबन्ध के चार कारण ही दिये गये हैं – मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग । प्रमाद कषाय के अन्तर्गत ही था । पर उमास्वामी ने इसे पृथक्कर पांच कारणों की श्रृंखला बना दी । इनमें ऋजुसूत्र नय की विवक्षा से योग एवं कषाय ही कर्मबन्ध में कारण हैं, मिथ्यात्व नहीं । इस दृष्टि से मिथ्यात्व को कथंचित् अकिंचित्कर कहने में कोई बाधा नहीं हैं ।

2. क्या पुण्य और पाप एक हैं, समान हैं ?

कर्म के दो प्रकार होते हैं – शुभ और अशुभ अथवा पुण्य और पाप। उमास्वामी ने इन्हें आश्रव के भेद के रूप में स्वीकार किया है । आचार्यों ने पुण्य कर्मों को सोने की और पाप कर्मों को लोहे की जंजीर माना है । मुमुक्षुओं को ये दोनों हेय हैं । परन्तु उनकी उपादेयता के विषय में मतभेद है । निश्चय दृष्टि से पुण्य हेय है पर व्यवहार दृष्टि से वह उपादेय है, हेय नहीं हो सकता । दान, पुण्य आदि कार्य आध्यात्मिक साधना को आगे बढाते हैं और मोक्ष प्राप्ति के पूर्व वे स्वतः छूट जाते हैं साधक के निरीच्छ होने के कारण । पुण्य चूंकि पुद्गल का, कार्य है, वह मोक्ष काल में निर्बन्ध हो जाता है । यदि इसे उपादेय नहीं माना जायेगा तो व्यवहार जगत में अव्यवस्था हो जायेगी ।

पुण्य का तात्पर्य है जो आत्मा को पवित्र करता है, मंगलकारी है । इसे हम शुभ परिणाम भी कह सकते हैं जिनमें दया, भक्ति, बारह भावना, रत्नत्रय आदि भावों का समावेश है । इन भावों की आराधना करने वाला जीव अन्तरात्मा कहलाता है । इनसे आत्मा पवित्र होती है और वह परमात्मा पद की ओर बढ जाती है । इसलिए शुभ भाव मोक्ष का कारण माना गया है । इसे शुभोपयोग और सरागचरित्र भी कहा जाता है । इससे पुण्यकर्म का बन्ध होता है और वहां संवर और निर्जरा भी होती है । (जयधवला पु. 1, पृ. 6 ; प्रवचनसार, 1.45) । उमास्वामी ने भी यही कहा है – शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य (6.3) । अतः पुण्य कार्य मोक्ष में सहकारी कारण है । इसलिए वे हेय नहीं हैं, उपादेय हैं ।

यह बात सही है कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा को परसमय माना गया है और परमात्मा को स्वसमय की संज्ञा दी गई है (रयणसार, 148 ; रा. वा. 2.10.11) । परन्तु इसे एकान्त पक्ष की दृष्टि से नहीं लिया जाना चाहिए। पुण्य और पाप यद्यपि पुद्गल द्रव्य हैं और जीव के परिणामों से उनका बन्ध होता है पर उनको एक ही तराजू पर नहीं तौला जा सकता है । पुण्य मोक्षमार्ग में सहकारी कारण है जबकि पाप उसमें बाधक है । यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि व्यवहारनय से पुण्य कथंचित् उपादेय हो सकता है पर निश्चयनय से तो पुण्य सर्वथा हेय है । क्योंकि निश्चयनय हेय–उपादेय रूप विकल्प से दूर है । पुण्य सांसारिक सुखों का कारण माना गया है और वह मोक्ष प्राप्ति में सहकारी कारण है ।

समयसार के पुण्य–पाप अधिकार में तथा गाथा 13 की टीका में जो भी कहा गया है,

वह एकत्वविभक्त आत्मा की दृष्टि से कहा गया है (गाथा 3–5), सर्वथा सत्य की दृष्टि से नहीं । इसी तरह गाथा 11 में व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है और 13वीं गाथा की टीका में पुण्य–पाप को जीव का विकार कहा गया है । वह एकत्वविभक्त आत्मा की अपेक्षा ही सही है सर्वथा नहीं । अतः पुण्य पाप की उपादेयता सर्वत्र बतायी गई है । इतना अवश्य है कि द्रव्यानुयोग की अपेक्षा शुद्धोपयोग की उपादेयता और शुभोपयोग की गौणता अवश्य मानी गई है । श्रेण्यारोहण कर्ता की दृष्टि से पुण्य अनुपादेय हो जाता है पर अवरित, देशविरत और प्रमत्तसंयत (4 से 6वें गुणस्थान) की अपेक्षा नहीं। श्रावक एवं प्रमत्त के लिये पुण्य कार्य आवश्यक हैं । उन्हें मात्र शुद्ध निश्चयनय का उपदेश देय नही है । ऐसा उपदेश तो उन्हें घातक सिद्ध हो सकता है ।

संवर और निर्जरा व्यवस्था

कर्मवाद अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से जुडा है । अतीत कर्मों के कारण ज्ञान–दर्शन आवृत हो जाते हैं । वर्तमान काल में साधना के माध्यम से उन अतीत कर्मों को दूर किया जा सकता है अपने पुरुषार्थ के माध्यम से और भविष्य में होने वाली पुनर्जन्म परम्परा को शिथिल किया जा सकता है। इनमें वर्तमान का पुरुषार्थ अधिक प्रबल होता है । इसलिए वर्तमान को अधिक सफल बनाने पर जोर दिया गया है ।

इन कर्मों के बन्ध और उदय में आत्मा स्वतन्त्र है और उसके फल भोगने में भी वह स्वतन्त्र है भले ही उसे कभी–कभी कर्म के के कारण दब जाना पडता है । निकाचित कर्मों के उदय की दृष्टि से जीव कर्म के अधीन होता है पर दलिक कर्मों के उदय काल में वह अधीन होता भी है और नहीं भी होता है । तपस्या के माध्यम से उन कर्मों को समय के पूर्व भी निर्जीर्ण किया जा सकता है । इसे उदीरणा कहा जाता है । यह उदीरणा पुरुषार्थ जन्य होती है । शुभोपयोग से होनेवाली यह कर्म–निर्जरा अविपाकी निर्जरा कहलाती है और अन्त में कर्म की संपूर्ण निर्जरा होने पर मोक्ष हो जाता है । इस प्रकार की कर्म की कुल दश अवस्थाओं का वर्णन जैन कर्म ग्रन्थों में मिलता है ।

जैनधर्म का यह कर्म सिद्धान्त मनोविज्ञान और आत्मवाद पर आधारित है । मानवता और पुरुषार्थवाद की कथा को समाहित करने वाला यह सिद्धान्त जीवन की सही व्याख्या करता है और यह कहता है कि कर्म करने वाला ही उसका भोक्ता होता है और वही अपने ही शुभ भावों और सत्कर्मों से निर्वाण प्राप्त करता है । आगे हम इस कर्मवाद पर कुछ और विचार करेंगे ।

कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद

जैनधर्म अस्तित्ववादी दर्शन है इसलिए वह कर्म की अवस्था में पुनर्जन्म को भलीभांति, स्वीकार करता है । उसके अनुसार संसारी आत्मा कर्मबद्ध होने के कारण निरन्तर जन्म–मरण करता रहता है । पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना और नये कर्मों और संस्कारों का

संचय करना उसका स्वभाव है। जीवात्मा के वर्तमान पर उसका अतीत और भविष्य खड़ा है । इसे ही हम पूर्वजन्म और जन्मान्तर का सेतु कह सकते हैं ।

संस्कारों का अस्तित्व नवजात शिशु में देखा जा सकता है जब वह रोता है, हंसता है, भयभीत होता है, सुख–दुःख का अनुभव करता है । पूर्वजन्म के अभ्यास के बिना ये प्रवृत्तियां हो नहीं सकतीं। परामनोविज्ञान ने इस क्षेत्र में बडा काम किया है । देश–विदेश में पूर्वजन्म स्मृति के आधार पर स्टीवेन्सन, ब्रोन आदि अनेक विद्वानों ने स्पमि इमवितम सपमिए सपमि जिमत कमंजीण जीम चवूमत वांितउश्आदि ग्रन्थ लिखकर इस तथ्य को उजागर किया है ।

आधुनिक विज्ञान भले ही आत्मा को न पकड पाया हो पर उसकी अमूर्त स्थिति और निरन्तरता का अनुभव तो करता ही है । इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे इस आत्मा को अतीन्द्रियज्ञानी ही जान सकते हैं । जैन–बौद्ध वैदिक आदि भारतीय परम्परायें तो पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को मानती ही हैं पर मिश्र और यूनानी परम्परायें भी इसे स्वीकार करती हैं । ईसाई और इस्लाम परम्पराएं भी अब इस क्षेत्र में आगे बढ रही हैं और वे बर्डसवर्थ, शापनहावर, हक्सले, राइन जैसे चिन्तकों और आधुनिक अनुभूतियों/खोजों को तथ्य परक मानने के लिए विवश हो रही हैं । जैनधर्म के ये चारों सिद्धान्त अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह और कर्म परस्पर अनुस्यूत हैं, एक दूसरे से जुडे हुए हैं । आत्मवाद उनकी भूमि है । उसी पर प्रतिष्ठित होकर व्यक्ति साधना करता है और संसार से मुक्त हो जाता है। जैनधर्म संसारिक दुःखों से पूर्णतः यथार्थतः मुक्ति पाने की प्रक्रिया है । इसीको हम जीवन पद्धति कह सकते हैं । इस जीवन पद्धति को हमने यहां तत्त्वज्ञान दर्शन और आचार व्यवस्था के रूप में विभक्त किया है । इस व्यवस्था को देने वाले तीर्थंकर ऋषभदेव हैं। उन्हीं के दर्शन का विकास 'जैनधर्म' है। पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थंकरों ने इसी धर्म को अपने जीवन में उतारा और संसारी प्राणियों को उसका उपदेश दिया ।

कर्मवाद : पुद्गल मीमांसा

कर्म का सम्बन्ध मन की विभिन्न अवस्थाओं से है और फिर ये दोनों अध्यात्म से जुडे हुए है। अध्यात्म का सम्बन्ध आचरण से है और आचरण का कार्य कारणात्मक जुडाव कर्म से है । आचरण या काम करने की प्रवृत्ति में बाह्य कारण तो समझ में आ जाता है पर भीतरी कारण समझ में नहीं आता। आग से पैर खींचना तो स्पष्ट है पर क्रोधादि आने का कारण क्या है इस पर ढंग से विचार करने के लिए कर्मशास्त्र की गहराइयों में जाना अत्यावश्यक है।

संसार में शक्ति, प्रतिभा, सम्पत्ति, सुख–दुःख आदि की दृष्टि से बडी विभिन्नतायें हैं । ये किसी के पास कम हैं तो किसी के पास ज्यादा । इसका कोई न कोई कारण होना चाहिए । वर्तमान युग में हम उसे मानसिक, शारीरिक या परिस्थितिजन्य जैसे बाह्य कारण कह सकते हैं पर इनके अतिरिक्त भीतरी कारण भी होना चाहिए जो अदृश्य रहता है । जैनाचार्यों

ने इसी को कर्म कहा है जिसका विवेचन उन्होंने धर्मध्यान के अपायविचय और विपाकविचय नाम के भेदों में किया है । अपायविचय का तात्पर्य है दुःख के कारणों की खोज और विपाकविचय का अर्थ है परिणाम की खोज। विपाक (परिणाम) का सम्बन्ध वर्तमान के साथ–साथ अतीतकाल से है । बीज का वपन हुआ तो उसी से अंकुर फूटेगा।

वर्तमान के साथ अतीत जुडा हुआ है । आज की सूक्ष्म फोटोग्राफी से भविष्य की बीमारी का पता चल जाता है और उसकी चिकित्सा शुरू कर दी जाती है । यही है अध्यात्म क्षेत्र में कर्मशास्त्र । वह अनादि है पर सान्त है। अन्धकार अनादि होता है पर उसे दूर किया जा सकता है । मिथ्यादर्शन अनादि है पर उसका अन्त किया जा सकता है । कुछ वस्तुएं सादि होती हैं पर अन्त हीन होती हैं । सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्बोधि रूप सूर्य के उदित होने के बाद फिर उसका अन्त नहीं होता । आध्यात्मिक साधना में अनादि कारण को खोजना और उसका अन्त करना लक्ष्य होता है । यही है कर्मशास्त्र की भूमिका ।

कर्म का मूल स्रोत

आधुनिक मानसशास्त्रियों ने आचरण के मूल स्रोतों की खोज में दो कारण बताये हैं – सहजात (स्वाभाविक) और अर्जित । फ्रायड जैसे कुछ मानस शास्त्रियों ने काम को ही मूल प्रवृत्ति माना है और किसी ने जिजीविषा, वुभुक्षा और सामाजिकता को। तीर्थंकर महावीर ने ऐसी दस संज्ञाओं का परिगणन किया है। संज्ञा का अर्थ है एक प्रकार की चित्तवृत्ति। आहार, भय, मैथुन परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, ओघ (समुदाय) और लोक (वैयक्तिक चेतना) से दस प्रकार की प्रवृत्तियां प्राणियों में होती हैं जो हमारे आचरण को प्रभावित करती हैं। ये मूल स्रोत नहीं हैं । आधुनिक विज्ञान में पृथ्वी, आग, तेजस वायु और आकाश को ही मूल भौतिक तत्त्व नहीं मानते। उनसे भी आगे बढकर हार्मोन ग्रन्थियों के स्राव तक उनका ध्यान गया है जो शरीर और मन दोनों को प्रभावित करते हैं। उदाहरणतः थायराड ग्रन्थि हमारे समूचे शारीरिक विकास को प्रभावित करती है। उससे मिलनेवाला थायरेक्सिन स्राव शरीर की पुष्टि में कारण बनता है। भय और क्रोध की स्थिति में यह स्राव समुचित नहीं हो पाता। इसी तरह पीनियल ;च्पदमंसद्ध ग्रंथि के स्राव के बिना व्यक्ति की प्रतिभा का विकास नहीं हो पाता। एड्रेनल ;।कमतदंसद्ध का स्राव न होने पर भय, चिन्तन और क्रोध उत्पन्न होता है और उससे निकलनेवाले स्राव एड्रेनलिन ;।कतमदंसपदद्ध शारीरिक स्फूर्ति का कारण होती है। गोनैड ;ळवदंकेद्ध ग्रन्थि यौन उत्तेजना का कारण बनती है। इसे हम कर्मशास्त्र की भाषा में 'वेद' कहते हैं । लिंग परिवर्तन इसी ग्रंथि के स्राव पर निर्भर करता है।

लोगों की विभिन्नता के पीछे इन ग्रंथियों का स्राव ही मूल कारण नहीं है। इसका मूल कारण है हमारा कर्म जो अदृश्य और अमूर्त है। सूक्ष्मतम उपकरण भी उसे नहीं देख सकते और न उनका कोई वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ही है। आइन्स्ट्रीन ने काल की अवधारणा को देकर अतीत की ओर सोचने का एक नया आयाम दिया है जो जैनधर्म की मान्यता को पुष्ट करता है।

पूर्वोक्त ग्रन्थियां शरीर के अवयव हैं जिनसे शरीर और मन प्रभावित होते हैं । इनका स्राव आठ स्पर्श वाला होता है – शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु और कठोर। परन्तु कर्म का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है जो चार स्पर्श वाला होता है – शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये चतुःस्पर्शी सूक्ष्म परमाणु ही कर्म बनते हैं, स्थूल परमाणु नहीं। इन सूक्ष्म कर्म परमाणुओं की फोटो ली गई हैं। मृत्यु के समय आत्मा अकेली ही नहीं होती, उसके साथ सूक्ष्म शरीर भी होते हैं। यह वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है। वैज्ञानिक जानते हैं कि आत्मा का फोटो नहीं लिया जा सकता पर जब वह शरीर से निकलती है तो उसके स्पर्श सूक्ष्म शरीर अवश्य होता है। ये सूक्ष्म शरीर दो हैं – तेजस और कार्माण। इनके बिना नया जन्म नहीं लिया जा सकता।

कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से न होकर अतीत से है। महावीर ने कर्म को पौद्गलिक माना है। उसे वासना या संस्कार नहीं कहा जा सकता है। वासना या संस्कार धारणा का ही दूसरा नाम है, जो स्मृति में कारण बनती है। मनोविज्ञान इसी को 'स्मृति–चित्र' कहता है। इसका सम्बन्ध उस स्मृति की अच्छाई या बुराई से नहीं है। इस अच्छाई या बुराई का सम्बन्ध है आत्मा के साथ लगा हुआ कर्म। कर्म का सम्बन्ध है रागात्मक या द्वेषात्मक अनुभूति से। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, शोक, घृणा, हास्य वासना आदि सभी विकार भाव या अनुभूतियां इन्हीं दो अनुभूतियों में सम्माविष्ट हो जाती है। कर्म के पुद्गलों को आकृष्ट करने वाले मूलतः ये दो ही तत्त्व हैं – राग और द्वेष।

विपाक की व्याख्या करने के लिए राग–द्वेष एवं बीज का कारण रूप सिद्ध होते हैं जिनका सम्बन्ध अतीत काल से हैं। यह अतीत काल वर्तमान जीवन के भी परे है । संसार में दो प्रकार के पदार्थ होते हैं – शाश्वत (नित्य) और अशाश्वत (अनित्य)। नित्य को ही विज्ञान की भाषा में 'ऊर्जा' कह सकते हैं। ऊर्जा अर्थात् द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता। पर्याय के रूप में उसका मात्र परिवर्तन होता रहता है। यह पर्याय रूप परिवर्तन भी आकाश में जाकर स्थित हो जाता है। भाषा के पुद्गल आकाश में फैल जाते हैं और वे हजारों वर्षों तक स्थिर रहते हैं। इसी आधार पर वैज्ञानिक यह प्रयत्न कर रहे हैं कि वे महावीर, बुद्ध आदि प्राचीन महात्माओं के शब्द अधिग्रहीत कर सकें और इन महात्माओं को हम देख सकें, भले ही उनकी आत्माओं को न देख सकें।

इसी तरह कर्म परमाणु भी विपाक (फल देना) के बाद आकाश में फैल जाते हैं। अतीन्द्रियज्ञानी उन्हें देखकर–जानकर परिणाम बताते हैं। जन्म–मरण भी ऐसी ही क्रिया है। परिणाम प्रवृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम इनका यह एक वर्तुल रहता है जिस पर कर्म रूप प्रवृत्तियां घुमती रहती हैं। इनसे वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों काल जुडे रहते हैं। कार्य–कारण के रूप में ये कर्म सहज नहीं है। सहज का सम्बन्ध है आत्मा (चेतना) और उसके स्वाभाविक अनन्त गुण, अनन्त आनन्द, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य (शक्ति) से।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

एक सहज ही प्रश्न उभरता है कि अमूर्त आत्मा और मूर्त कर्म के साथ सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकते हैं ?पर इसमें कोई विरोध नहीं दिखता । आकाश अमूर्त है पर उसका सम्बन्ध मूर्त पदार्थ से होता ही है। घटाकाश, पटाकाश आदि प्रसिद्ध ही है। अमूर्त का मूर्त के प्रति उपकार है और मूर्त के द्वारा अमूर्त का परिणाम भी होता है। यहां यह ध्यान देना होगा कि चेतना और कर्म में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं बल्कि संयोग सम्बन्ध होता है। तादात्म्य सम्बन्ध दो विरोधी द्रव्यों में नहीं होता, संयोग दो विरोधी द्रव्यों में होता है। चेतना के उपादान परिवर्तन में कर्म निमित्त हो सकते हैं और कर्म के उपादान परिवर्तन में चेतना निमित्त बन सकते हैं । आत्मा और कर्म के उपादान अलग–अलग हैं। आत्मा के उपादान हैं–ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति। पुद्गल के निमित्त हैं, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श।

जहां तक आत्मा और कर्म का सम्बन्ध है, वह निमित्त और नैमित्तिक है। अस्तित्व कभी बदलता नहीं। बदलाव होता है केवल उसकी परिधि में। कर्म का निमित्त मिलने पर अमूर्त आत्मा भी मूर्त रूप में व्यवहृत होने लगता है। इसलिए आत्मा को पुद्गल (मूर्त) भी कहा जाता है। आत्मा अमूर्त होती है। समस्त कर्मों से विमुक्त हो जाने पर संसारी आत्मा तो अमूर्त नहीं है। कर्म का दैहिक सम्बन्ध उसके साथ जुडा हुआ है इसलिए वह मूर्तवत् दिखाई देती है।

चेतना पर कर्म का घना आवरण चढ़ जाने के बाद वह एकेन्द्रिय जीव हो जाती है। वैज्ञानिकों की मान्यता में एकेन्द्रिय जीव की संरचना उसके गुणसूत्र के अनुसार हुई। पर कर्मशास्त्र के अनुसार इस संरचना का मूल कारण है राग, द्वेष की प्रबलता जिससे चेतना सघन नींद में चली गयी। इसे स्त्यानर्द्धि निद्रा कहा जाता है। उसमें चेतना का कुछ अंश अवचित्त में शेष रहा । उस अवचित्त ने पुद्गलों को प्रभावित किया तो सूक्ष्म शरीर पौद्गलिक चित्त और कर्मचित्त भी वैसी ही बन गया। फलतः एक स्पर्शन इन्द्रिय ही मिली । बाकी इन्द्रियों का बोध अस्पर्श रहा।

भावकर्म के अनुसार ही पौद्गलिक कर्म होता है। भावकर्म पांच हैं । मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये पांच भावचित्त कर्मों का अनुभव करते हैं। कर्मों के अनुभव का मूल कारण है राग और द्वेष । ये भावकर्म द्रव्यकर्मों को प्रभावित करते हैं और द्रव्यकर्म भावकर्म को प्रभावित करते हैं। भावकर्म है जैविक रासायनिक प्रक्रिया और द्रव्यकर्म है सूक्ष्म शरीर की पौद्गलिक रासायनिक प्रक्रिया है। ये दोनों कर्म एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। यही बन्ध है। कर्म परमाणुओं का जब संग्रह हो जाता है तो इस अवस्था को प्रदेश बंध कहते हैं।

समूचे आकाश मण्डल में कर्म की वर्गणाएं व्याप्त हैं। जैसे ही हमारे भावचित्त का निर्माण हुआ, ये कर्म परमाणु हमारी आत्मा से बंधने लगते हैं। जब तक ये कर्म परमाणु किसी

प्राणी के द्वारा स्वीकृत नहीं होते, तब तक ये कर्म प्रायोग्य कहे जाते हैं, कर्म बनने की योग्यता उनमें होती है। जैसे ही हमारे राग–द्वेष से वे आकृष्ट होते हैं, उनके स्वभाव के आधार पर व्यवस्था शुरू हो जाती है। इसे प्रकृति बंध कहा जाता है, उनमें जब फल देने की क्षमता आ जाती है तब उसे अनुभाव कहा जाता है। यही अनुभाव बंध है, जो फल देने की शक्ति राग–द्वेष परिणामों की तीव्रता और मंदता पर आधारित है। यहां हमें मन और कर्म के सम्बन्ध पर भी विचार कर लेना चाहिए ।

जैन दर्शन में मन और कर्म

जैन दर्शन के अनुसार मन स्कन्धात्मक है । उसे अणुप्रमाण नहीं माना जा सकता अन्यथा संपूर्ण इन्द्रियों से अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकेगा । वह तो एक सूक्ष्म आभ्यन्तरिक इन्द्रिय है जो सभी इन्द्रियों के सभी विषयों को ग्रहण कर सकती है । सूक्ष्मता के कारण ही उसें 'अनिन्द्रिय' भी कहा गया है । उसका कोई बाह्याकार भी नहीं है । मन के दो भेद हैं – द्रव्यमन जो पौद्गलिक है और भावमन जो इन्द्रिय के समान लब्धि (प्राप्त शक्ति) और उपयोगात्मक (ज्ञानस्वरूप) है ।

जैन दर्शन में कर्म को पुद्गल माना गया है । आत्मा और पुद्गल का अनादिकालीन सम्बन्ध है। वह द्वैतवादी दर्शन है । उसके अनुसार जड और चेतन का संयोग संसार है और उनका वियोग मोक्ष है । चूंकि हर संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त है इसलिए मूर्त का मूर्त पुद्गल कर्म के साथ संयोग संबन्ध अस्वाभाविक नहीं है । अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मादक द्रव्य अपना प्रभाव छोडते ही हैं । कर्म–पुद्गल में आश्रव नाम की एक ऐसी ऊर्जा है जो सतत् प्रवाहित होती रहती है। यह आश्रव मन, वचन और काय रूप योग से होता है । योग से कर्म वर्गणायें आकर्षित होती हैं और तदनुसार आत्म–परिणाम बन जाते हैं जिन्हें लेश्या का अभिधान दिया जाता है । योग एक शरीर प्रवृत्ति है । शरीर के बिना योग हो नहीं सकता । इसलिए लेश्या शरीर नामकर्म के उदय का परिणाम माना जाता है । क्रिया–प्रतिक्रिया के चक्र में बना रागादि संस्कार ही कर्म है ।

योग और लेश्या का इतना गहन सम्बन्ध होने पर भी दोनों भिन्न–भिन्न हैं । योग स्थूल है और लेश्या सूक्ष्म है । लेश्या आत्मा का विशिष्ट परिणाम है और योग वीर्यान्तराय के क्षय क्षयोपशम से जनित है । कषाय का क्षय 12 वें गुणस्थान में होता है और 13 वें गुणस्थान में मनोयोग और वचनयोग का संपूर्ण निरोध हो जाता है । 14 वें गुणस्थान में शेष काययोग समाप्त हो जाने पर साधक अयोगी हो जाता है, इसका तात्पर्य यह है कि लेश्या की प्रशस्तता और अप्रशस्तता मन के परिणामों पर निर्भर करती है ।

मन और चित्त को साधारणतः समानार्थक माना जाता है पर वस्तुतः दोनों पृथक्–पृथक् हैं । मन तत्त्व का मनन करता है और चित्त या बुद्धि उसे ग्रहण करती है । चित्त से परे चेतन या आत्मा का अस्तित्व है । शरीर और मन पौद्गलिक हैं और चित्त

अपौद्गलिक है । तत्त्व का ज्ञान मन से नहीं बल्कि कर्म से होता है । तैजस और कार्माण सूक्ष्म शरीर हैं । इसके बाद स्थूल शरीर आत्मा है और फिर चित्त का निर्माण होता है । ज्ञान कर्म से चलता हुआ चित्त में पहुंचता है और फिर वह स्थूल शरीर और इन्द्रियों से होता हुआ अभिव्यक्त होता है । अतः चित्त को आत्मा की व्यापकता दी जा सकती है । स्वप्नावस्था में भी मन अपना कार्य करता रहता है । इसलिए संसारी जीव सदैव कर्म का बन्ध करता रहता है । मनोविज्ञान में भी स्वप्न विज्ञान पर अच्छा कार्य हुआ है ।

कर्मबन्ध प्रक्रिया

व्यक्ति जब कर्म करता है, प्रवृत्ति करता है तो तत्काल कर्मबंध हो जाता है, पर उसका फल तत्काल नहीं मिलता (कुछ काल तक वे कर्म परमाणु सत्ता में रहेंगे, उदय में नही आयेंगे । यह सत्ताकाल आबाधाकाल कहलाता है। आबाधाकाल की समाप्ति के बाद ही वह कर्म विपाक की स्थिति में आता है और अपना फल देने लगता है। इसी को स्थितिकाल कहा जाता है।

इन चारों अवस्थाओं के घटक दो तत्त्व हैं—राग और द्वेष। मन, वचन और काय की चंचलता के कारण यह राग—द्वेष प्रवृत्ति कर्म परमाणुओं को आकर्षित करती है। कषाय के कारण ये परमाणु आत्मा के साथ चिपके रहते हैं। और कर्मों का आश्रव तथा बंध हो जाता है। कर्म बंध की प्रक्रिया में मुख्य कारणों में सर्वप्रथम नाम लिया जाता है मिथ्यात्व का। मिथ्यात्व का तात्पर्य है मिथ्या दृष्टिकोण । मिथ्यादृष्टि जीव सही को गलत और गलत को सही मानता है। दर्शनमोह के उदय के कारण यह मिथ्यात्व जागता है। अविरति का तात्पर्य है कि किसी की छिपी हुई चाह, आकांक्षा, आशा। यह चंचलता का सबसे बडा स्रोत है जिसे हम उदास मन (आय.डी) कहते हैं। मिथ्यात्व से ये आकांक्षायें बढती रहती हैं। प्रमाद और कषाय तत्त्व भी चारों और घूमते रहते हैं। योग का अर्थ है चंचलता जो इन चारों कारणों से बनी रहती है । चंचलता से प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से कर्मबन्ध होता है । प्रवृत्ति का यह परिणाम है जो तत्काल मिलता है पर उसका उपभोग लंबे समय तक चलता रहता है । अपनी स्थिति और शक्ति के अनुसार ये कर्म फल देते रहते हैं।

इस प्रसंग में यह तथ्य विचारणीय है कि क्या कोई कर्म का फल देने वाला है, उसका नियामक है ?व्यक्ति अच्छे कर्म का फल तो भोगना चाहता है पर बुरे कर्म के फल से बचना चाहता है इसके लिए कोई न कोई न्यायाधीश या प्रशासक होना चाहिए यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से मन में उठता है पर इसको स्वीकार करने पर अनेक विकट प्रश्न खडे हो जाते हैं । कर्तृत्व के भोक्तृत्व के साथ कर्तृत्व भी जुडा रहता है । यदि कर्म का फल देने वाला है तो कर्म को कराने वाला भी होना चाहिए । सांसारिक असमानताएं, क्रूरताएं, अत्याचार, विसंगतियां दिखाई देती ही हैं। इन्हें करानेवाले का सम्बन्ध यदि किसी परम सत्ता से जोडा जाये तो यह बात मनको भाती नहीं । परम शुद्ध ईश्वर को इन सभी कार्यों से क्या मतलब

?इसलिए इसे यदि स्वतः संचालित मान लिया जाये तो सारे प्रश्न अपने आप समाप्त हो जाते हैं । व्यक्ति आहार करता है और उसकी पाचनक्रिया स्वतः होती रहती है । शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार के प्रकारों पर प्रोटीन, विटामिन पर ध्यान देते हैं और अस्वस्थ होने पर उसकी चिकित्सा करते हैं। यही बात कर्म के साथ भी लागू होती है । कर्म पुद्गलों का ग्रहण भी एक आहार है । हम उन्हें खींचते हैं, अपनी ओर आकर्षित करते हैं और फिर वे पुद्गल आकर हमसे चिपक जाते हैं । उनके स्वभाव का निर्माण, विभाजन, अवस्थिति, निर्जरा आदि सभी कुछ उसी तरह से होता है । अतः उसे किसी नियामक की आवश्यकता नहीं रहती। उसमें स्वतः फल देने की क्षमता रहती है । यदि हम अपनी आसक्ति और कषाय प्रवृत्ति को रोक लें तो कर्मबन्ध की प्रक्रिया शुरू ही नहीं होगी । नाडी—ग्रन्थियां भी इस कार्य में सहायक सिद्ध होती हैं ।

नाडी ग्रन्थियों का सम्बन्ध शरीर से है । अवचेतन मन पर परिस्थितियों का असर होता है, वे निमित्त बन जाती हैं और निमित्त को नकारा नहीं जा सकता । पर जो घटनायें घटती हैं उनके पीछे यदि हम निमित्त की खोज करें तो लगता है उनके पीछे कोई न कोई कर्म प्रेरक के रूप में खडा है ।

हर व्यक्ति में दो प्रकार की क्षमता होती हैं — योग्यात्मक क्षमता जिसे 'लब्धिवीर्य' कहा जाता है और क्रियात्मक क्षमता जिसें 'करणवीर्य' कहा जाता है । योग्यात्मक क्षमता आत्मा में रहती है और क्रियात्मक क्षमता आत्मा और शरीर में रहती है । योग्यात्मक क्षमता के अभाव में विकास हो ही नहीं पाता। उसके होने पर भी यदि क्रियात्मक क्षमता नहीं है तो भी विकास गति नहीं पकड पाता । दोनों के होने पर ही विकास प्रक्रिया शुरू हो पाती है ।

इन क्षमताओं के सन्दर्भ में हमें आत्मा, शरीर और मन इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करना पडेगा । आत्मा के गुणों की अभिव्यक्ति का माध्यम है शरीर और उसमें रहने वाली इन्द्रियां, मन और बुद्धि । शरीर स्वस्थ हो पर यदि इन्द्रियां वगैरह स्वस्थ और सकुशल न हों तो भी आत्मा के गुणों की अभिव्यक्ति सही ढंग से नहीं हो पाती । शरीर और मन भी परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं । परन्तु निमित्त का मूल स्रोत है कर्म। अकारण जब किसी को देखकर क्रोध उठता है तो उसमें परिस्थिति कारण नहीं होती, कारण होता है हमारा कर्म । सब कुछ कर्म से ही नहीं होता, कर्म और परिस्थिति दोनों यथासमय उसमें निमित्त बनते हैं ।

काल भी उसे प्रभावित करता है जिसे 'काललब्धि' कहा जाता है । वनस्पति सूक्ष्म कायिक जीवों का भण्डार है जिसे अव्यवहार राशि कहा जाता है । मोक्ष यहां से नहीं होता । यहां से जीव काललब्धि के प्रभाव से व्यवहार राशि में आता है, स्पर्शनेन्द्रिय के साथ ही अन्य इन्द्रियों का वहां विकास होता है । इस व्यवहार राशि में भी जो कृष्ण पक्ष अर्थात् तामस् वृत्तिओं वाले होते हैं वे आध्यात्मिक विकास नहीं कर पाते पर जो शुक्ल पक्ष या प्रशस्त वृत्ति

वाले होते हैं वे आध्यात्मिक विकास कर लेते हैं । इसी तरह स्वभाव भी एक शक्ति है । किसी में आध्यात्मिक विकास का स्वभाव नहीं भी होता ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हर कार्य के पीछे कर्म नहीं होता । उसमें काल, स्वभाव आदि भी निमित्त कारण बनते हैं । पुरुषार्थ भी एक शक्ति है जिसके बल पर हम अपने कर्म को बदल सकते हैं। इस में भी काललब्धि का प्रभाव होता है । अर्थात् कर्म का एक छत्र साम्राज्य नहीं होता। उसकी व्यूह रचना को हम नष्ट–भ्रष्ट कर सकते हैं, सबसे प्रबलकर्म होता है मोह कर्म । अहं और ममकार उसी के अंग हैं । उनको नष्ट किये बिना मोक्ष नहीं पाया जा सकता।

आवेग और कर्म

कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म के चार मुख्य अवेग हैं – क्रोध, मान, माया और लोभ। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद । ये नोकषाय उप–आवेग हैं जो मुख्य आवेगों के कारण उत्पन्न होते हैं । मनोविज्ञान में छह आवेग माने जाते हैं – भय, क्रोध, हर्ष, शोक, प्रेम ओर घृणा । ईर्ष्या आदि आवेग मूल आवेग न होकर मिश्रित आवेग माने जाते हैं ।

मोह की तीव्रता के कारण बौद्धिक चेतना का भले ही विकास हो जाये पर आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हो पाता । मोह के उपशान्त और क्षीण हो जाने से ही आध्यात्मिकता विकसित हो पाती है । बौद्धिक चेतना का विकास तो ज्ञानावरण कर्म के उपशान्त और क्षय होने से होता है । मोह का कारण राग–द्वेष और कषाय है । कषाय का पहला प्रकार है अनन्तानुबन्धी। वह इतने तीव्रतम और दृढतम अनुबन्ध (सन्तति) पैदा करता है कि जिसका अन्त नहीं हो पाता। वह चट्टान में खिंची दरार के समान होती है जो कभी कट नहीं पाती । राग–द्वेष की वह ऐसी कठोर गांठ होती है कि जो कभी खुल नहीं पाती । उसके प्रभाव से न सम्यक्दृष्टि मिल पाती है और न मूर्च्छा जा पाती है । वह आवेग जब क्षीण होता है तो वह मिट्टी पर खिंची रेखा के समान कम शक्तिशाली होता है, तीव्रतर होता है जिसे अप्रत्याख्यानी कषाय कहते हैं । इस अवस्था में दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है, सत्य उपलब्ध हो जाता है । पर उसके बावजूद उस मार्ग पर व्यक्ति चल नहीं पाता । आध्यात्मिक चेतना का उदय तो हुआ पर अनन्त आकांक्षाओं के कारण उसकी प्यास बुझ नहीं पाती । वह प्यास जैसे–जैसे शान्त होती है कि साधक वैसे वैसे आध्यात्मिकता की ओर बढने लगता है । इसे हम साधना की प्रथम सीढी कह सकते हैं । इसमें भेद–विज्ञान हो जाता है और आत्मा और शरीर को पृथक्–पृथक् मानने का बोध जाग्रत हो जाता है । यह सम्यक् दृष्टि गुणस्थान है । यह अवस्था गृहस्थ साधकों की होती है जो देशविरति नामक पांचवें गुणस्थान तक चलती है ।

आवेग की यह दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यानावरण) जब उपशान्त और क्षीण हो जाती है तो राग–द्वेष के भाव मन्द पड जाते हैं, वे बालू पर खिंची रेखा के समान मन्द हो जाते हैं ।

इसे प्रत्याख्यानी कहा जाता है । इस अवस्था में त्याग का मार्ग अच्छा लगने लगता है, प्यास बुझने लगती है । इसे छठा गुणस्थान कहा जाता है जो अध्यात्मिक विकास की छठी भूमिका है । यह अवस्था मुनि साधकों की है । इसमें साधक आध्यात्मिक साधना के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है और आजीवन इस अवस्था को धारण किये रहने का संकल्प लेता है ।

चतुर्थ अवस्था में आवेग मन्दतर हो जाते हैं, पानी पर खिंची रेखा के समान क्षणिक होते हैं जिसे संज्वलन कषाय कहा जाता है । इसके समाप्त होते ही साधक वीतराग बन जाता है, यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कर लेता है। यहां मोह का संपूर्ण रूप से विलय हो जाता है ।

कर्मशास्त्र की भाषा में आवेग नियन्त्रण की तीन पद्धतियां हैं –उपशमन, क्षयोपशमन और क्षयीकरण । उपशमन को हम दमन कह सकते हैं जिससे साधक 11 वें गुणस्थान उपशान्तमोह (अध्यात्मिक विकास की भूमिका) तक पहुंच सकता है । दमन होने के कारण मनोवेगों में उथल–पुथल बनी रहती है और साधक अपनी आध्यात्मिक ऊंचाई से नीचे–ऊपर गिरता रहता है। पर जब वह क्षयोपशमन के माध्यम से वीतराग वाले पथ पर आगे बढने का प्रयत्न करता है तो उसके कुछ कर्मों का उपशमन होता है और कुछ का क्षय होता हे । इसे हम उदात्तीकरण अथवा मार्गान्तरीकरण कह सकते हैं । क्षयीकरण में कर्मों या आवेगों का पूर्णक्षय हो जाता है ।

मनोविज्ञान की दृष्टि में भी आवेगों पर नियन्त्रण किया जाना चाहिए । कैसे किया जाये, इस प्रश्न के उत्तर में अध्यात्मशास्त्र साधनापक्ष प्रस्तुत करता है । कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान में आवेग कैसे उत्पन्न होते हैं और उसका परिणाम क्या होता है इसपर प्रकाश डालने और उसके बाद उन आवेगों का क्षय कैसे किया जाये इसकी भूमिका में अध्यात्मशास्त्र की अहम् भूमिका रहती है ।

कशाय और लेष्या

कर्माश्रव का मूल कारण मोहनीय कर्म है जिसके अन्तर्गत क्रोधादि कषाय आती हैं । उनके स्वभाव, तरतमता और स्थायित्व के आधार पर आचार्यों ने उन्हें उपमाओं के साथ – उनको चार भागों में क्रमशः विभाजित किया है – अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण, और संज्वलन । इन चारों कषायों का स्वरूप इस प्रकार है –

1. क्रोध – क्रमशः पाषाण, पंक, धूलि और जल रेखा के समान ।
2. मान – क्रमशः पाषाण, अस्थि, लकडी और बेंत के समान ।
3. माया – क्रमशः बांस की जड, भैंस के सींग, गोमूत्र की धारा और बांस के छिलके के समान ।
4. लोभ – क्रमशः मंजीठिया रंग, ओंगन, कीचड और हलदी के समान ।

कषायों के समान ही मानसिक वृत्तिओं का भी वर्गीकरण किया गया है जिन्हें 'लेश्या' की संज्ञा दी गई है । ये जीव के परिणाम या अध्यवसाय हैं जिन्हें पौद्‌गलिक माना गया है । मिथ्यात्व, प्रमाद (असंयम), कषाय और योग ये चार कारण इन लेश्याओं की पृष्ठभूमि में बने रहते हैं । इन लेश्याओं की छ. श्रेणियां रंग के आधार पर की गई हैं –

1. कृष्णलेश्या – तीव्रकषायी, दुराग्रही, हिंसक, कलहप्रिय आदि ।
2. नीललेश्या – विषयासक्त, मन्द, आलसी, परवंचन में दक्ष आदि ।
3. कापोत लेश्या – मात्सर्य, पैशून्य, परनिन्दा, युद्ध आदि करने वाला ।
4. पीतलेश्या – दृढता, मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलता आदि ।
5. पद्‌मलेश्या – सत्यवाक्, क्षमा, सात्विकदान, पाण्डित्य आदि ।
6. शुक्ल लेश्या – निर्वैर, वीतरागता, गुण, दृष्टि आदि ।

प्रथम तीन अप्रशस्त लेश्यायें हैं और शेष तीन प्रशस्त लेश्यायें हैं । अप्रशस्त लेश्याओं के मोहादि कारण हैं। उन कारणों पर तर–तमता जैसे–जैसे कम होती जाती है, लेश्यायें भी वैसी होती जाती हैं ।

जैनेतर दर्शनों में भी लेश्याओं का वर्णन किसी न किसी रूप में मिलता है । पातंजल योग में कर्म के सन्दर्भ में कृष्ण, शुक्ल–कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल अकृष्ण इन चार अवस्थाओं का वर्णन मिलता है । सांख्यदर्शन में रज, सत् और तम का वर्णन आया है । मनोविज्ञान के क्षेत्र में इनका विशेष महत्त्व है । आभामण्डल कषाय और लेश्या को स्पष्ट करता है और मनोविज्ञान संवेगों को। जैन मनोविज्ञान आधुनिक मनोविज्ञान से भी कहीं अधिक ऊपर है।

लेश्या और आभामण्डल

इन कषायों को अध्यवसाय अथवा लेश्या कहा जा सकता है । समयसार में बुद्धि, अध्यवसाय, व्यवसाय, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम को एकार्थक माना गया है (गाथा 271) । यह आश्रव है, कर्मबन्ध का मूल कारण है । हमारे चैतन्य के चारों ओर कषाय के वलय के रूप में कार्माण शरीर है । कर्मयुक्त आत्मातत्त्व इसी वलय से गुजरता है । अध्यवसाय की शुद्धता अशुद्धता कषाय की मन्दता और तीव्रता पर निर्भर रहती है । अचेतन मन संस्कारों से संवर्धित होता है और वे अध्यवसाय को प्रभावित करते हैं । अध्यवसाय से मन भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता । अध्यवसाय की शुद्धता जीवन की यथार्थ शुद्धता है । गुणस्थान का सिद्धान्त इसी सिद्धान्त पर आधारित है । सातवें नरक में भी जीव को इन्हीं शुभ परिणामों के बल पर सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है । जाति स्मृति ज्ञान में भी उत्तरोत्तर

शुभ परिणामों की अनिवार्यता मानी गई है । अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान की उपलब्धि भी इसी विशुद्धता पर आधारित है ।

कषाय और योग से व्यक्ति का आभामण्डल बनता है जो उसके विचार और चरित्र का दिग्दर्शन माना जाता है । वह भावों के अनुसार उसका रंग बदलता रहता है । कृष्ण, नील, कापोत रंग व्यक्ति की गर्हित प्रवृत्ति के सूचक हैं और तेज (कापोत) पद्‌म और शुक्ल लेश्यायें सद्‌प्रवृति को बताती हैं । ये रंग सूक्ष्म शरीर से निकलने वाली भावात्मक किरणें हैं जो सूक्ष्म शरीर के चारों ओर अण्डाकृति में उभर जाती हैं । जैन दर्शन में इसे लेश्या कहा जाता है । साधारण तौर पर यह आभामण्डल दिखाई नहीं देता पर आभामण्डल से व्यक्तित्व की पहचान होती है । काला रंग – प्रमाद, कषाय क्रूरता का परिचायक है । नीले वर्ण से उसकी ईर्ष्या, माया, असक्ति, हिंसक प्रवृत्ति देखी जा सकती है । कापोत रंग में वक्रता, मात्सर्य और मिथ्यादृष्टि प्रतिबिम्बित होती है। रक्त वर्ण की प्रधानता में धार्मिकता, ऋजुता, पीतवर्ण में अल्प क्रोध, आत्मसंयम, प्रशान्तचित्त और श्वेत वर्ण में जितेन्द्रियता शुद्धाचरण और संयम पराकाष्ठा झांकती है । इन रंगों के अनेक भेद–प्रभेद होते हैं और तदनुसार व्यक्तित्व को परखा जा सकता है । आधुनिक मनोविज्ञान में इस क्षेत्र में अच्छा काम हुआ है ।

कर्म मुक्ति प्रक्रिया

कर्मों के आवेगों से मुक्ति पाने के लिए एक कुशल चिकित्सक जैसे साधक बनने की आवश्यकता होती है । जब तक हम आवेगों या कर्मों के उत्पन्न होने के कारणों पर गहराई से विचार नहीं करेगे तब तक उनसे मुक्त होने के मार्ग पर भी हमारी सोच आगे नहीं बढ पायेगी। इस दृष्टि से जीव (आत्मा), अजीव (पौद्‌गलिक कर्म), आश्रव–बन्ध, संवर–निर्जरा और मोक्ष तत्त्वों की प्रकृति को समझ लेना आवश्यक है । कर्म या आवेग के बीज पर हम पीछे विचार कर चुके हैं ।

कर्म के आवेगों और उनके बीजों–कारणों को कर्मशास्त्र की भाषा में आश्रव कहा जाता है। इनका उत्पत्ति केन्द्र है मस्तिष्क । इन्हें शान्त करने के विभिन्न उपाय हैं । मस्तिष्क में अल्फा, बीटा, गामा आदि विविध तरंगें पैदा होती रहती हैं जो हमारी प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं । आज भी चिकित्सा पद्धति ने भी इन्हें शान्त करने की पद्धतियां निकाली हैं । मद्रास की 'ब्रेन इन्स्टीटयूट' में मस्तिष्क के ऐसे केन्द्रों की पहचान की गई है जो मादक पदार्थ आदि की ओर आकृष्ट होते हैं । उन केन्द्रों का आपरेशन कर मद्यपान, क्रोध आदि आवेगों से किसी सीमा तक मुक्ति पा सकते हैं ।

अध्यात्मशास्त्र इसके लिए सबसे पहला साधन देता है आत्मतत्त्व की पहचान । हमें यह तथ्य अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि हमारा स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह मूल रूप से परम विशुद्ध, परम ज्ञानमयी, परम सुखमयी तथा परम शक्तिमयी है । हमारे इस रूप को

कर्म या आवेग पूर्णतः विनष्ट नहीं कर सकते, उसे प्रच्छन्न भले ही कर लें। मूल स्वरूप को प्रच्छन्न करने वाले कारणों को ही कर्मशास्त्र की भाषा में कर्म कहा जाता है जो संख्या में आठ हैं ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय । इन कर्मों का विपाक होने पर उनकी फलदान प्रक्रिया चालू हो जाती है ।

ज्ञानावरणीय कर्म इन्द्रिय तथा मन की ज्ञान शक्ति को ढक देता है । प्रतिभा की तरतमता का मूलकारण यही कर्म है । दर्शनावरणीय कर्म हमारी देखने की शक्ति को आवृत करता है । निद्रा और आलस्य इसी का परिणाम है । वेदनीय कर्म से सुख–दुःख की अनुभूति होती है और उनके कारण सामने आते हैं । मोह का तात्पर्य है आसक्ति, राग–द्वेषात्मक प्रवृत्ति । यही प्रवृत्ति सर्वाधिक दुःख का कारण है । अन्तराय कर्म का अर्थ है विघ्न–बाधा उपस्थित होना/करना ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये कर्म घातिया कर्म कहलाते हैं जो अधिक घातक माने जाते हैं । शेष कर्म अघातिया होते हैं जो घातिया कर्मों के विनष्ट हो जाने पर शक्तिहीन हो जाते हैं ।

आत्मज्ञान होने पर सम्यक्दृष्टि जाग्रत हो जाती है, भेदविज्ञान हो जाता है और यहीं से व्यक्तित्व में आमूलचूल परिवर्तन दिखाई देने लगता है । आवेगों के तत्त्व अहंकार और ममकार शक्तिहीन हो जाते हैं । साधक इस समय कर्मों के विपाक पर भी चिन्तन करता है जो उसकी मानसिक स्थिति में बदलाव लाता है । विपाकों के निमित्तों पर ध्यान देने से इस प्रक्रिया में और भी तेजी आ जाती है और फिर यदि साधक कष्ट–सहिष्णु है तो वीतरागता की ओर बढने में और भी सुविधा होती है । इसमें आवेगों के प्रतिपक्षी तत्त्वों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । क्रोध का प्रतिपक्ष है क्षमा। मान–माया, लोभ के प्रतिपक्षी हैं क्रमशः मृदुता, ऋजुता और सन्तोष भाव । इनके माध्यम से आवेगों के उपशमन होने में अधिक सहायता मिलती है ।

आवेग वस्तुतः स्वभाव नहीं हैं, विभाव हैं, विकृतियां हैं जिन्हें साधना के माध्यम से दूर किया जा सकता है। चेतना या आत्मा का अनुभव होने पर आवेगों का रुकना बन्द हो जाता है और साधना के माध्यम से उनकी निर्जरा हो जाती है इसी को अयोग कहा जाता है । कर्मों के आश्रव को, आवेगों को जैन दर्शन में योग कहा जाता है और उस योग से मुक्त होने की साधना को अयोग साधना कहा जाता है । बाह्य निमित्तों से सम्बन्ध विच्छेद करना ही अयोग संवर है । योग या आवेगों की चपेट में हम परतन्त्र हो जाते हैं और तदनुसार हमारा आचरण बदल जाता है, मिथ्यात्व आदि निमित्तों में वृद्धि हो जाती है । उनके वश में होकर हम अपनी स्वतन्त्रता पर परदा डाल देते हैं ।

हम अपने कर्तृत्व में स्वतन्त्र हैं पर परिणाम भोगने में परतन्त्र हैं । इसलिए स्वतन्त्र और परतन्त्र ये सापेक्ष शब्द हैं । कर्म निमित्त हैं परतन्त्र करने में चेतन आत्मा उपादान है । ज्ञान, सुख, आनन्द, शक्ति उसकी औपादानिक शक्तियां हैं जो निमित्तों के कारण आवृत हो जाती

हैं । मिट्टी उपादान है घड़े के निर्माण में और कुम्हार, चाक, हवा पानी आदि निमित्त और सहकारी कारण हैं। निमित्त कारण कभी उपादान को उत्पन्न नहीं कर सकते। वे उसे उठाने–गिराने में सहायक अवश्यक हो सकते हैं ।

आत्मा के साथ राग–द्वेष का परिणाम जुडा हुआ है जो उसे प्रभावित करते हैं । आत्मा के साथ शरीर का योग है जो हमारी परतन्त्रता का कारण है । शरीर को आहारादि के माध्यम से स्वस्थ रखना, उसकी कामवासना आदिसे संघर्ष करना हमारी परतन्त्रता का कारण है । इस परतन्त्रता में हमारा राग–द्वेष मूल कारण होता है । उसी से दुःखों की उत्पत्ति होती है । यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि सभी दुःखों का कारण हमारा कर्म ही नहीं है, उसके अतिरिक्त और भी अनेक कारण हैं जिनसे व्यक्ति दुःखी या रोगी होता है । अधिक या प्रतिकूल भोजन करने से पेचिस हो गई या अधिक जागरण से शिरदर्द हो गया तो इसमें कर्म को कारण कैसे माना जा सकता है ?यह तो एक संयोग है जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर घटित होता रहता है । रोग होना असातावेदनीय कर्म का उदय है। पर असाता वेदनीय कर्म के कारण अहितकर भोजन किया गया हो यह नहीं कहा जा सकता । यह कहा जा सकता है अहितकर भोजन के कारण आयुष्य कर्म का विपाक हुआ । यदि हम ऐसा नहीं माने और सब कुछ कर्म पर छोड दें तो फिर ईश्वर और कर्म में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा । और हमारी स्वतन्त्रता भी नहीं रहेगी। कर्म की अपनी सीमा है, वह उसी आत्मा पर प्रभाव डालता है जो राग–द्वेष युक्त है । इन राग–द्वेषों को शान्त करने की हमारी मनोवृत्ति है इसलिए हम स्वतन्त्र हैं । बस, हमें जागरण का सूत्र मिल जाये तो आत्मा को अपने मूल स्वरूप में पहुंचाया जा सकता है।

जागरण का सूत्र है संयम, चारित्र, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का पालन कर राग–द्वेष की ग्रन्थि को भेदना। इसे अपूर्वकरण कहा जाता है क्योंकि यहां से पहली बार राग–द्वेष का भेदन प्रारम्भ होता है । इसे हम संवर की प्रक्रिया कह सकते हैं । इसमें राग–द्वेष के अनुभव से वापिस आ जाते हैं आत्मानुभव में और भविष्य में राग–द्वेष में न जाने का दृढ संकल्प ले लेते हैं । इससे मूर्च्छा और मोह विगलित होने लगता है और समतामयी आचरण की प्रतिष्ठा हो जाती है । सम्यक् तपानुष्ठान से कर्मों की संवर–निर्जरा भी होने लगती है, इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं (प्रतिसंलीनता), उनका मार्गान्तरीकरण हो जाता है, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि के द्वारा कर्म से विनिर्मुक्त होने की प्रक्रिया आगे बढने लगती है ।

यहां पर ध्यान रखना आवश्यक है कि कर्म की सार्वभौम सत्ता नहीं है। वह सर्वशक्तिसंपन्न नहीं है । उस पर हम अंकुश लगा सकते हैं, आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर साधक उससे विनिर्मुक्त हो सकता है। अतः तप के माध्यम से कर्म को बदला जा सकता है, नष्ट किया जा सकता है । कर्म का विपाक देश, काल, भाव आदि

के माध्यम से होता है । कर्म निमित्तों को दूरकर कर्म के विपाक को भी दूर किया जा सकता है।

उद्दीपक कारणों के रूप में बाह्य वातावरण और परिस्थिति आन्तरिक वातावरण और नाडी संस्थान में परिवर्तन लाता है और व्यक्ति उनके वश में होकर अनचाहा कार्य कर डालता है । किसी ने गाली दी और हाथ उठ गया । पर साधक के लिए इतना प्रयत्न करना चाहिए कि उस पर किसी प्रतिक्रिया का असर न हो इस स्थिति तक पहुंचने के लिए ही अहिंसादिक व्रतों की परिपालना की जाती है । वर्तमान मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में ऐसे रसायनों और इन्जेक्शनों की खोज हो गई है कि एक के लगाने से व्यक्ति चिन्ताग्रस्त हो जाता है तो दूसरे के लगाने से वह चिन्तामुक्त हो जाता है । कर्मशास्त्र में इन रसायनों को 'रसविपाक' कहा जाता है । तदनुसार प्रवृत्ति, भाव या अध्यावसाय से कर्मशरीर में एक स्पन्दन होता है जो तैजस शरीर के माध्यम से स्थूल शरीर तक पहुंचता है जहां वह रसायन पैदा करता है विभिन्न केन्द्रों में और वे रसायन हमारे आचरण को प्रभावित करते हैं । पिच्यूटरी का स्राव ठीक से न होने के कारण हमारी अन्तर्दृष्टि नहीं जागती। साधना की गहराई के साथ इन रसायनों का प्रभाव कम हो जाता है । चण्डकौशिक सर्प का प्रभाव महावीर पर नहीं पडा । कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हम इन रसायनों से स्वतन्त्र भी हैं और परतन्त्र भी।

इस स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के सन्दर्भ में पांच मुख्य दार्शनिक धारणायें हैं – कालवाद, स्वभाववाद, ईश्वरवाद, नियतिवाद और कर्मवाद । इनमें कर्मवाद का क्षेत्र अधिक व्यापक और सार्वभौमिक है । व्यक्ति में कुछ विशेषताएं होती हैं – ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शक्ति, क्षमता, कर्तृत्व। उसमें इन गुणों की हीनाधिकता का पाया जाना बहुत कुछ उसके पूर्वकृत कर्मों पर निर्भर करता है । सुख–दुःख का चक्र भी उसके जीवन के साथ अतीत कर्मों के कारण जुडा रहता है। शरीर की सारी रचना कोशिकाओं, क्रोमोसाम, जीन आदि का निर्माण नामकर्म के कारण होता है । जीवन में यश की प्राप्ति, उच्चकुल का मिलना आदि जैसे पक्ष गोत्रकर्म के अधीन है । फल की प्राप्ति में जो विघ्न–बाधायें आती हैं वह अन्तराय कर्म पर निर्भर करती हैं । कर्मवादी इन सबके कारणों के पीछे कर्म के अस्तित्व को मानता है । कालवादी, स्वभाववादी या ईश्वरवादी काल नियति, स्वभाव या ईश्वर को सामने ले आता है । काल, स्वभाव आदि सब इस स्थिति में प्रधान बन गये और व्यक्ति गौण बन गया, मनुष्य पीछे खिसक गया । क्या इसे स्वीकारकर हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें और पुरुषार्थ हीन हो जोयें ?धर्म का फिर अस्तित्व ही क्या रह जायेगा ?समग्रता की दृष्टि अपनाये बिना सत्य को नहीं पकडा जा सकता । आधुनिक मनोविज्ञान जिसे एनीमल माइण्ड और ह्यूमन माइन्ड, अचेतन और सचेतन, अविशुद्ध और विशुद्ध मन कहते हैं उसे ही कर्मशास्त्र की भाषा में क्रमशः औदयिक और क्षायोपशमिक मन कहा जाता है। एक कषाय से बंधा रहता है और दूसरा उससे निर्मुक्त रहता है ।

समग्रता की दृष्टि से यदि हम इस तथ्य पर विचार करें तो हम कर्म आदि की दृष्टि से परतन्त्र हैं और उनसे मुक्त होने की हमारी शक्ति हमारे पास है, इस दृष्टि से स्वतन्त्र हैं । यह सापेक्षवाद हमारी समस्याओं का समाधान कर देता है । आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद का प्रतिपादन कर इसी तथ्य को प्रस्थापित किया है ।

कर्म, नियति आदि तत्त्व शक्ति सम्पन्न हैं पर इनकी अपनी मर्यादाएं हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमा से वे बंधे हैं । प्रत्येक कर्म का विपाक होता है और तदनुसार फल मिलता है । पर यह भी ध्यान रखिए की सब कुछ कर्म पर ही निर्भर नहीं है । कर्म इन कारणों में एक हैं । क्रिया होगी तो प्रतिक्रिया होगी ही । पुरुषार्थ भी अकेला नहीं होता। वह कर्म के साथ रहता है । आज का पुरुषार्थ कल का कर्म बन जाता है । इसलिए काल, स्वभाव, नियति, कर्म पुरुषार्थ ये सभी सापेक्ष हैं । सभी की शक्तियां सीमित हैं ।

कर्म की शक्ति सीमित होने के बावजूद उसे शक्तिसंपन्न माना जाता है और कृत कर्म को भुगतना पडेगा यह भी समझा जाता है । पर यह भी समझ लेना चाहिए कि कर्म की शक्ति को कमजोर किया जा सकता है और समय के पूर्व भी उसकी निर्जरा की जा सकती हैं तथा उसे बदला जा सकता है । इसको 'संक्रमण' कहा जाता है । आधुनिक जीन विज्ञान के अनुसार भी जीव को बदला जा सकता है । पुरुषार्थ से अशुभ को शुभ में बदला जा सकता है और प्रमाद के कारण शुभ भी अशुभ रूप में परिणत हो जाता है । यह उत्तरदायित्व हमारा है कि हम अपने शुभाशुभ कर्म को किस रूप में बदलना चाहते हैं ।

हमारा शरीर स्थूल है । इसमें अनन्त कोशिकाएं जिनमें जीन और क्रोसोसोम होते हैं । हमारी चेतना और पुरुषार्थ तत्त्व यहीं रहते हैं । सबका पुरुषार्थ और चेतना तत्त्व एक जैसा नहीं होता, उनमें तरतमता होती है । इसलिए सभी में असमानता भी दिखाई देती है और यही कर्म है। इसी जीन को हम संस्कार सूत्र कह सकते हैं । इस शक्ति का मूल स्रोत है आत्मा जिसमें ज्ञान–दर्शन रूप गुण भरा रहता है । रूस के वैज्ञानिक तारासोव के अनुसार हमारा प्रत्येक सेल एक ज्योतिपुंज है जो निरन्तर जलता रहता है । उसी का प्रकाश हमें त्याग की ओर खींच ले जाता है । त्याग की ओर ले जाने में प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त सहयोगी होते हैं । प्रतिक्रमण का तात्पर्य है अतीत का स्मरण करके पीछे लौट जाना और भूल पर प्रायश्चित्त करना । इन उपायों से अपायों का विनाश किया जाता है।

कर्मवाद की उपयोगिता

कर्मवादी वस्तुतः व्यक्ति को बुराई से बचाकर अच्छाई की ओर ले जाता है । जब वह मान लेता है कि बुरे कर्म का फल बुरा होता है तो फिर वह बुरा कर्म करने से दूर भागता है । परन्तु व्यक्ति इससे निराशावादी और पलायनवादी अधिक बन गया है । वह अपनी पुरुषार्थवृत्ति को भूल–सा जाता है । पर यह ठीक नहीं है । कर्म तो पुरुषार्थ को जाग्रत करता है और वर्तमान को सुनहरा बनाने की ओर प्रेरित करता है । आनुवंशिकता, परिस्थिति,

वातावरण आदि से व्यक्ति प्रभावित होता अवश्य है पर कर्म की अपनी शक्ति है, वह निरन्तर गतिशील रहता है, उसका संस्कार (वासना) एक धूमिल रेखा खींच देता है जो परदे की पीछे काम करता है एक सूक्ष्म शरीर के रूप में । वही सूक्ष्म शरीर रूप कर्म हमारे स्थूलष्शरीर को संचालित करता है । जब तक ये कर्म रूप संस्कार नष्ट नहीं होते, संसारी जीव दुःखों से मुक्त नहीं हो पाते ।

कर्मवाद हमारी नैतिकता की अवधारणा का आधार है जो कर्मवादी होगा वह भ्रष्टाचारी, अप्रामाणिक नहीं हो सकता । वर्तमान जीवन को सुखी बनाने के लिए कर्मवादी होना नितान्त आवश्यक है । सद्–असद् वृत्तियों की पहचान जागरूक होकर ही की जा सकती है और तभी व्यक्ति सुखी हो सकता है । इन वृत्तियों का परिपाक देश, काल, और परिस्थिति के अनुसार हेाता है । यह हमारा अज्ञान है कि हम उसकी उपयोगिता को नहीं समझ पाते । हम उसकी वासना की व्याख्या नहीं कर पाते, मात्र घटना ही सामने रहती है ।

व्यक्ति–व्यक्ति में जो भेद दिखाई देता है वह कर्म का ही फल है कम्मओणं विभत्ति भावं जणयई । इसी को आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में जीन कहा जाता है । जीन स्थूल शरीर का ही अवयव है पर कर्म सूक्ष्मशरीर से संबद्ध है।

कर्म दो प्रकार के हैं – पौद्गलिक या पारणामिक कर्म जिन्हें द्रव्यकर्म कहा जाता है और दूसरा चैतसिक कर्म जो भावकर्म हैं । भावकर्म से ही द्रव्यकर्म अर्जित किया जाता है । राग–द्वेष से ही कर्मों का संबन्ध है । राग–द्वेष से जुडा चित्त चैतसिक कर्म बन जाता है । वही संस्कार का रूप धारण करता है जिसे बन्ध कहा जाता है । निमित्तों के सहयोग से वह संस्कार यथासमय जाग्रत हो जाता है।

साधारण तौर पर देखा जाता है और प्रश्न किया जाता है कि धर्म और नैतिकता का पालन करने वाला व्यक्ति आपत्तियों को अधिक आमन्त्रित करता है जबकि अनैतिक व्यक्ति विविध भौतिक सुखों को पा जाता है । पर यह प्रश्न ही सही नहीं है । धर्म का काम भौतिक सुखों को देना नहीं बल्कि उनका त्याग कराना है । धर्म करने वालों की चेतना का यह रूपान्तरण होना चाहिए । और फिर उसके अतीतकालीन कर्म के संस्कार भी तो उसके साथ हैं । इन अतीत संस्कारों के समक्ष धर्म करने वाला अपने नवीन प्रतिसंस्कार खडेकर उनकी शक्ति को क्षीण करता है।

एक यह भी प्रश्न उठता है कि एक व्यक्ति अच्छा या बुरा काम करता है और उसका फल दूसरे को मिलता है। पिता संपत्ति कमाता है और फल सन्तान को मिलता है । एक गलती करता है और फल सारे समाज या राष्ट्र को मिलता है । ऐसे में ''जो कर्म करता है वही फल का भोक्ता होता है'' यह सिद्धान्त गलत हो जाता है । इस प्रश्न पर यदि गंभीरता पूर्वक विचार करें तो तथ्य समझ में आ जाता है । कर्म में दो प्रकार के कारण होते हैं – उपादान और निमित्त । उपादान वैयक्तिक होता है और निमित्त सामूहिक । संवेदन भी

वैक्तिक होता है और परिणाम सामूहिक । निमित्त ही परिस्थिति को पैदा करता है। जब कर्मविपाक सामूहिक होता है तो उसे कर्म की परिभाषा में उदीरितावस्था कहा जाता है । उपादान ठीक हो जाये तो परिस्थिति पैदा भी न हो और सामूहिक फल का प्रसंग न आये ।

कर्मसिद्धान्त है – सव्वजोणिया खलु जीवा अर्थात् जीव सार्वयोनिक होते हैं, कोई भी जीव किसी भी योनि में जा सकता है । कर्म की इस शक्ति को कम भी किया जा सकता है और बढाया भी जा सकता है । दूसरा सिद्धान्त है जातिपरिवर्तन अर्थात् पुण्य का पाप और पाप का पुण्य रूप में परिवर्तन। कर्म के द्वारा संचालित भावों से कर्म और कर्म से निषेधक भाव उत्पन्न होते रहते हैं । यह व्यूह चलता रहता है । ध्यान से यह भावपरिवर्तन किया जा सकता है । भेद–विज्ञान से यह चक्रव्यूह भेदा जा सकता है ।

समाजवाद के आधारभूत सिद्धान्त है – जगत का आधार अचेतन हैं । मात्र वर्तमान है, परिस्थितिवाद तथा अर्थ ही सब कुछ है । कर्मवाद को यह सब मान्य नहीं । कर्म व्यक्ति की आन्तरिक अवस्था में परिवर्तन का प्रतीक है पर समाजवाद में बाहरी परिवर्तन होता रहता है । भ्रष्टाचार रागद्वेष का परिणाम है जो कर्मबन्धन का जबर्दस्त कारण है ।

धर्म की साधना से काम की भावना समाप्त हो, और परिग्रह का अन्त हो तभी उसकी उपयोगिता समझ में आ सकती है । शुद्ध कर्मवाद, भाग्यवाद और पुण्यवाद ने भरत में पुरुषार्थ के महत्त्व को कम कर दिया है । कर्मवाद के अनुसार कृतकर्म का फल मिलता ही है । उसका विकास होता ही है । विपाक का सम्बंध है क्षेत्र, काल पुद्गल और जीव से । सुख का अनुभव भी जीव को होता है, उसका परिपाक जीव में होता है, पदार्थ में नहीं । परन्तु हमारी यह भ्रान्ति बन गई है कि पदार्थ का होना सुख है और न होना दुःख है । सच यह है कि पदार्थ के द्वारा व्यक्ति को ऐकान्तिक रूप से सुख या दुःख नहीं होता । पानी का पहला गिलास प्यास की शान्ति के लिए आवश्यक है पर वाद के गिलास उतने आवश्यक नहीं । इसी तरह धनी को सुखी माना ही जाये यह आवश्यक नहीं। धन सुविधायें पाने का निमित्त भले ही हो सकता है पर उससे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती । कर्म की व्यवस्था अन्तरिक व्यक्तित्व के निर्माण करने या बिगाडने में है, पदार्थ को जुटाने में नहीं । महावीर ने अपरिग्रह पर बहुत बल दिया । उन्होंने परिग्रह को एक संज्ञा माना जो मोहनीय कर्म का फल है, पुण्य का नहीं । केन्द्रित अर्थव्यवस्था में हिंसा अनिवार्य है, वहां वैचारिक स्वतन्त्रता भी नहीं हो सकती। विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था में सुखमय जीवन होता है यदि धर्म और नैतिकता उसका आधार रहे, अल्पारंभ या अल्पपरिग्रह रहे ।

कर्मवाद की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा स्वरूपतः स्वतन्त्र है, सभी आत्मायें समान हैं पर यह भी अनुभव किया जाता है कि कुछ आत्मायें कम विकसित होती हैं और कुछ अधिक प्रतिभा संपन्न होती हैं, विकसित होती हैं । समान परिस्थितियां मिलने पर भी एक भाई आगे बढ जाता है और दूसरा भाई पीछे रह जाता है । एक स्वस्थ और सुन्दर रहता है तो दूसरा

अस्वस्थ और कुरूप रहता है । कर्मवाद इसी की कारण मीमांसा प्रस्तुत करता है । मनोविज्ञान से भी आगे कर्मवाद की परिधि है । आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी ने इसका सुन्दर विवेचन 'कर्मवाद' में किया है । यही विवेचन कसायपाहुड और षट्खण्डागम में भी मिलता है । सुधी पाठक विस्तार से इन ग्रन्थों को देख सकते हैं ।

अब हम षट्खण्डागम ग्रन्थ की संक्षिप्त तुलना कतिपय ऐसे ग्रन्थों से करना चाहेगें जिनका संबन्ध या तो मूलतः कर्मसिद्धान्त से है या फिर उसे उद्धृत किया है ।

15. षड्खण्डागम और कसायपाहुड

इसके विषय में हम कसायपाहुड की भूमिका में कुछ प्रकाश डाल चुके हैं । दोनों ग्रन्थ परमागम की श्रेणी में आते हैं । षड्खण्डागम अग्रायणी पूर्व से उद्भूत हुआ है तो कषायपाहुड का सम्बन्ध ज्ञानप्रवाद पूर्वश्रुत से रहा है। धरसेन अग्रायणी पूर्व के चयनलब्धि नामक पांचवें अधिकार के महाकर्मप्रकृति प्राभृत नामक चौथे प्राभृत के ज्ञाता था । उसे उन्होंने पुष्पदन्त–भूतबलि को दिया जिन्होंने षड्खण्डागम की रचना की । इसी तरह गुणधर भट्टारक प्रेयोद्वेषप्राभृत (कसायप्राभृत) के ज्ञाता थे जो ज्ञानप्रवादपूर्व के दसवें वस्तु अधिकार का तीसरा प्राभृत है । उन्होंने सोलह हजार पद प्रमाण प्रेयोद्वेष प्राभृत को मात्र 180 गाथाओं में रचा । गुणधर आचार्य धरसेन के पूर्ववर्ती श्रुतधर थे। श्रुत साहित्य की दृष्टि से वे प्रथम लेखक हैं जिन्होंने कसायपाहुड की रचना की । षड्खण्डागम इसके बाद की रचना है ।

कसायपाहुड समासपद्धति में लिखा हुआ प्रथम कर्मग्रन्थ है । उसमें षड्खण्डागम जैसा पुनरुक्ति दोष खोजने पर भी नहीं मिलेगा । प्रश्नात्मकशैली का प्रयोग दोनों में हुआ है जो प्राचीनता का प्रतीक है । कषायप्राभृत की 95–109 गाथाएँ षड्खण्डागम की जीवस्थान चूलिका में उद्धृत हुई हैं और 110 वीं गाथा के समूचे भाव को षड्खण्डागम के सूत्र 1.9–8, 11–12 में देखा जा सकता है । अतः यह स्पष्ट है कि कसायपाहुड षड्खण्डागम का पूर्ववर्ती आगम ग्रन्थ है । विशेषता यह है कि षड्खण्डागम का अधिकांश भाग गद्य में लिखा गया है जबकि कसायपाहुड पद्यात्मक है । प्रथम में मंगल है दूसरे में मंगल नहीं है । षड्खण्डागम में चूलिकाएँ हैं पर विषय को अधिकारों में विभाजित नहीं किया जबकि कसायपाहुड में चूलिकाएँ नहीं हैं पर विषय का विभाजन अधिकारों में हुआ है । षड्खण्डागम में गुणस्थानों का स्पष्ट वर्णन है पर कसायपाहुड में गुणस्थानों और मार्गणाओं का कोई उल्लेख नहीं है। इससे लगता है कि गुणस्थानों का विकास षड्खण्डागम काल में हुआ है ।

16. षड्खण्डागम और मूलाचार

मूलाचार आचार्य कुन्दकुन्द का ग्रन्थ है, वट्टकेर का नहीं । वट्टकेर उनका विशेषण रहा होगा। दोनों ग्रन्थों की तुलना करने पर उनकी पूर्वापरता का आभास हो जाता है ।

षड्खण्डागम में छह पर्याप्तियों का उल्लेख तो है पर उनके नामों का निर्देश नहीं मिलता । मूलाचार में ये नाम मिल जाते हैं, साथ ही काल का भी निर्देश प्राप्त होता है (मू. 12. 6–7)। देवों की आयु का भी विषद वर्णन मूलाचार में मिलता है जबकि षड्खण्डागम में नहीं है । तिलोयपण्णत्ति में मूलाचार का स्पष्ट रूप से इस सन्दर्भ में उल्लेख कर यह संकेत किया कि तिलोयपण्णत्ति मूलाचार का उत्तरवर्ती ग्रन्थ है (गा. 8.530–532)। इसी तरह मूलाचार में गुणस्थान और मार्गणाओं का वर्णन नहीं मिलता जबकि षड् में यह विस्तार से विवेचित हुआ है । इसका मूल कारण यह है कि मूलाचार आचार विषयक ग्रन्थ है जिसमें गुणस्थान वर्णन का कोई क्षेत्र ही नहीं रहता । इस सब के बावजूद यह अधिक संभावना है कि मूलाचार के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द को आनुपूर्व से आचार परम्परा प्राप्त हुई जिसे उन्होंने अपने ग्रन्थों में समाहित किया है । इस सन्दर्भ में विशेष रूप से पर्याप्ति अधिकार उल्लेखनीय है । आचार्यों में मतभेद भी कुन्दकुन्द के काल से अधिक पनपे हुए हैं ।

17. षड्खण्डागम और कम्मपयडी

षड्खण्डागम के सूत्रों की तुलना कम्मपयडी से की जा सकती है । कम्मपयडी में षड्खण्डागम के सूत्रों का आधार लेकर शिवशर्मसूरि (वि. सं. 5 वीं शती) ने गाथाओं की रचना की है । उदाहरणार्थ

	कम्मपयडी	षड्खण्डागम
1.	गाथा 74 से 78 (संक्रमकरण)	षड्खण्डागम का वेदना अनुयोगद्वार सूत्र 7–32
2.	गाथा 94 से 96	वही, सूत्र 49 से 75
3.	गाथा 70 से 78 (स्थिति प्ररूपणा)	वही, उक्कस्सिट्ठि चू. 4–6
4.	गाथा 14–15 (अल्पबहुत्व प्ररूपणा)	षड् 1–28 सूत्र
5.	गाथा 5 (बंधनकरण)	षड् सूत्र 175–6
7.	गाथा 68–69 (बन्धनकरण)	षड् सूत्र 36–45 (कालविहाण)
8.	स्थितिबन्ध – संक्लेश विशुद्धि अल्पबहुत्व गाथा 81–82	षड् वही, सूत्र 37–50 51–64 षड् वही, गाथासूत्र 65–100
9.	गाथा 83–84 (निषेक प्ररूपणा)	षड् वही, सूत्र 101–122
10.	गाथा 85–86 (वही)	षड् वही गाथासूत्र 121–164
11.	गाथा 87–101 (बन्धनकरण)	षड् वही, गाथासूत्र 165–279
12.	गाथा 8–9 (उदय)	षड् वेदना भावविधान चूलिका की प्रथम गाथा

13. गाथा 15–20 (बन्धनकरण) षड् बंधणिज्जाणि गाथासूत्र 73–102

श्री पं. हीरालाल सि. शास्त्री ने षड्खण्डागम और कम्मप्पयडि की तुलना करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि शिवशर्म सूरि ने कम्मपयडि की रचना षड्खण्डागम के आधार से की है । कम्मपयडि को संगहणी कहा गया है। इससे पता चलता है कि ये गाथाएँ परम्परा से दोनों सम्प्रदायों में संग्रहीत हुई हैं।

475 गाथाओं में निबद्ध इस कम्मपयडि में बन्धन, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, उपशामना, निधत्ति, और निकाचना इन आठ कारणों की प्ररूपणा की गई है । अन्त में उदय और सत्व को भी प्ररूपित किया गया है षड्खण्डागम से । इन सभी का वर्णन शब्द और अर्थ की अपेक्षा बहुत अधिक प्रभावित है । फिर भी कतिपय विशेषताएॅ भी दृष्टव्य हैं। षड्खण्डागम में प्रश्नोत्तर शैली का उपयोग हुआ है जबकि कर्मप्रकृति में वही विषय प्रश्नोत्तर शैली के बिना ही प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार की अन्य विशेषताएँ भी दृष्टव्य हैं ।

18. षड्खण्डागम और जीवसमास

जीवसमास अज्ञातकर्तृक रचना है जिसका प्रकाशन ऋषभदेव केसरीमल श्वे. संस्था रतलाम से ई. सन् 1958 में हुआ है और हिन्दी अनुवाद सहित उसी का प्रकाशन पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी से 1998 में हुआ है । इसमें कुल 286 गाथाएॅ हैं । इनमें षड्खण्डागम के जीवस्थान प्रकरण के समान ही सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम आदि आठ अनुयोग द्वारों से जीव का वर्णन किया गया है । जीवट्ठाण की तरह इसका भी आधार महाकम्मपयडि पाहुड रहा होगा। संग्राहक को जो जैसा भी उसका अंश प्राप्त हुआ, उसे उन्होंने संकलित कर दिया । यही कारण है कि उन्होंने एक–दो मार्गणाओं का वर्णन करने के बाद कह दिया कि इसी तरह अन्य मार्गणाओं के विषय में अनुचिन्तन किया जा सकता है । षड्खण्डागम के जीवस्थान में इसी क्रम को विस्तार से 1860 सूत्रों द्वारा पूरा किया गया है । ऐसा लगता है कि 'पूर्वभृत् सूरि सूत्रित' कहने के बावजूद जीवसमास षड्खण्डागम के जीवट्ठाण का ही संक्षिप्त रूपान्तरण है ।

इसके बावजूद दोनों में कुछ अन्तर भी दिखाई देता है । प्रश्नात्मक शैली में लिखे गये जीवसमास में ओघ और आदेश की अपेक्षा सत्प्ररूवणा आदि आठ अनुयोग द्वारों के आश्रय से जीवों की विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है । गुणस्थान और मार्गणाओं का वर्णन लगभग एक–सा हुआ है । शब्द और विषय भी लगभग समान हैं । अन्तर यह है कि षड् में अनुयोगद्वार में सभी मार्गणाओं का आश्रय लिया गया है जबकि जीवसमास में एक–दो मार्गणाओं का ही आश्रय लिया गया है । पर संक्षेप में होते हुए भी विस्तृत अर्थ की भी प्ररूपणा वहां मिलती है । उदाहरणार्थ संज्ञी मार्गणा का वर्णन जीवसमास में अच्छा हुआ है । (गाथा 81) । द्रव्यप्रमाणानुगम का भी विवेचन षड् खं. की अपेक्षा जीव समास में अधिक हुआ है । ऐसे भी प्रसंग हैं जहां जीवसमास में समास पद्धति का आश्रय लिया गया है ।

जीवसमास की गाथाएँ प्राचीन परम्परा से प्राप्त ही गाथाएँ थीं जो षड्खण्डागम, मूलाचार, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थों में संकलित हुई हैं । पं. हीरालालजी का यह कथन युक्तिसंगत नहीं लगता कि जीवसमास धरसेन को कण्ठस्थ था और षड्खण्डागम का वह आधारभूत ग्रन्थ रहा है । डॉ. सागरमल जैन ने अपनी भूमिका में इसी तरह का विचार व्यक्त किया है जो सयुक्तिक नहीं लगता । जीवसमास वस्तुतः उत्तरकालीन संकलन है जिसे विषयानुसार सुसम्बद्ध कर दिया गया है। दोनों ग्रन्थों का विषयादि का वर्णन लगभग एक–सा चलता है । जैसे गोमट्टसार षड्खण्डागम का संक्षिप्त रूप है वैसे ही जीवसमास भी उसी का संक्षिप्त रूपान्तरण है और श्वेताम्बर मान्यता का उस पर आवरण डाल दिया गया है । अन्यथा बारह स्वर्गों के नाम वहां क्यों आते ?संग्राहक ने अपनी ओर से इसमें कुछ भी नहीं किया है। अतः यह रचना काफी उत्तरकालीन है । इस तथ्य का प्रमाण यह है कि इसमें जीवसमास शब्द के साथ ही गुणस्थानों का भी स्पष्टतः उल्लेख मिलता है जैसा वीरसेन ने धवला जयधवला टीका में किया है । अतः जीवसमास का रचनाकाल वि. सं. पांचवीं शती के बाद का ही माना जा सकता है । नन्दीसूत्र की रचना के बाद ही उसकी रचना हुई होगी ।

19. षड्खण्डागम और प्रज्ञापना

षड्खण्डागम और प्रज्ञापना दोनों ही दोनों संप्रदायों में सैद्धान्तिक ग्रन्थों के रूप में संमान्य हैं । प्रज्ञापना के लेखक श्यामार्य हैं । यह ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चतुर्थ उपांग के रूप में माना जाता है। दोनों ग्रन्थ लक्षण प्रधान न होने के कारण संबद्ध विषयों को अनुयोगद्वारों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। षड्खंडागम के समान ही प्रज्ञा. में भी प्रश्नोत्तर पद्धति का प्रयोग किया गया है । भले ही उसमें एक रूपता नहीं हो । वहां प्रारम्भ में तीर्थंकर महावीर और गौतमादि गणधरों का उल्लेख नहीं हुआ है । फिर भी परम्परागत गाथाओं का उपयोग दोनों ग्रन्थों में समान रूप से हुआ है । प्रज्ञापना में भाष्यात्मक गाथाएॅ अधिक हैं जो कदाचित् प्रक्षिप्त हैं और उनसे ही श्यामार्य के रचनाकर्तृत्व का पता चलता है, फिर भी परम्परा का ज्ञान नहीं हो पाता।

षड्खण्डागम के प्रथमखण्ड जीवस्थान का मूल उद्देश्य है विभिन्न जीवों में चौदह मार्गणाओं के आश्रय से चौदह जीवसमासों (गुणस्थानों) का अन्वेषण करना । प्रज्ञापना में 14 मार्गणाओं की अपेक्षा 12 द्वार अधिक हैं – उपयोग, भाषक, परीत, पर्याप्त, सूक्ष्म, अस्तिकाय, चरम, जीव, क्षेत्र, बन्ध और पुद्गल । इनके आश्रय से अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है । सत्प्ररूपणा में यह प्ररूपणा अनुयोगद्वारों से की गई है जबकि प्रज्ञापना में उनका उल्लेख पद आदि जैसे किसी भी नाम से नहीं किया गया है। इसी तरह षड्खण्डागम की अपेक्षा प्रज्ञापना में अधिक वनस्पतिकायिक जीवों की विविध जातियों का उल्लेख हुआ है। यह उल्लेख उत्तरकालीन विकास का परिणाम हैं ।

षड्खण्डागम में चौदह गुणस्थानों पर विचार किया गया है पर प्रज्ञापना में गुणस्थानों का उल्लेख ही नहीं है। इतना ही नहीं, उसमें कर्म पर पर्याप्त विवेचन नहीं हुआ है, मूल प्रकृतियों का विवेचन भी अधूरा –सा लगता है । षड्खण्डागम में मूलतः जीव का ही प्रमुखता से विवेचन हुआ है, जबकि प्रज्ञापना में 'अजीवप्रज्ञापना' को भी स्वतन्त्र रूप में स्थान मिला है । प्रज्ञापना में निक्षेप और नयों का कोई विवेचन नहीं है जबकि षड्खण्डागम में निक्षेप और नयों के आधार पर ही विषय को प्रस्तुत किया गया है । इसी तरह षड्खण्डागम जैसी चूलिकाएँ प्रज्ञापना में नहीं मिलती। हां, गाथात्मक सूत्र अवश्य प्रज्ञापना में अधिक हैं ।

इस प्रकार षड्खण्डागम की तुलना हम तत्त्वार्थ सूत्र, जीवकाण्ड–कर्मकाण्ड आदि ग्रन्थों से भी कर सकते हैं । चूंकि समूची जैन परम्परा का यह अभूतपूर्व ग्रन्थ है, इसलिए उत्तरकालीन आचार्यों का इससे प्रभावित होना स्वाभाविक है । यहां हमने उसका मात्र दिग्दर्शन कराया है । आचार्य कुन्दकुन्द को कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) और कषायप्राभृत का ज्ञान गुरु परम्परा से प्राप्त हुआ ही था। उन्होंने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक टीका भी लिखी थी जो वृत्ति रूप रही होगी । उसी वृत्ति पर शामकुंड ने अपनी पद्धति टीका लिखी जो प्राकृत संस्कृत कन्नड मिश्रित थी। इसके बाद तुम्बुलूराचार्य ने प्रथम पांच खण्डों पर चूडामणि टीका कन्नड में लिखी और छठवें खण्ड पर पंजिका टीका की रचना की। प्रथम पांच खण्डों पर समन्तभद्र की संस्कृत टीका का भी उल्लेख इन्द्रनन्दी ने किया है। वप्पदेव गुरु की व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका का भी उल्लेख धवला में मिलता है । कसायपाहुड पर यतिवृषभाचार्य की चुण्णिसुत्त टीका भी उल्लेखनीय है । आचार्य वीरसेन ने धवला–जयधवला में जिन ग्रन्थों और आचार्यों का उल्लेख किया है उनपर हम उन्हीं ग्रन्थों की भूमिका में लिखेंगे। इतना अवश्य है कि ये सभी ग्रन्थ दक्षिण प्रतिपत्ति पर आधारित थे जिन्हें विशुद्ध आचार्य परम्परागत माना गया है । उत्तर प्रतिपत्ति को आचार्य सम्मत स्वीकार नहीं किया गया है ।

षट्खण्डागम और कषायप्राभृत का सम्बन्ध दिगम्बर परम्परानुसार सीधे महावीर स्वामी की द्वादशांग वाणी से माना जाता है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय जिस बारहवें अंग दृष्टिवाद को लुप्त मानता है उसी पर दिगम्बर सम्प्रदाय के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ आधारित हैं और श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने जिन ग्यारह अंगों को स्वीकार किया है वे ग्यारह अंग दिगम्बर सम्प्रदाय में लुप्त माने गये हैं ।

प्रज्ञापना को धर्मसागरीय और खरतरगच्छीय पट्टावलियों के आधार पर 'कालक' शब्द को श्यामार्य का पर्यायवाची मानकर षड्खण्डागम से पूर्ववर्ती सिद्ध किया जाता है जो तथ्यसंगत नहीं है । नन्दि सूत्र (वि. सं. 523 के लगभग) में प्रज्ञा. का उल्लेख अवश्य है पर उपांगश्रुत के रूप में नहीं, उत्कालिक श्रुत के रूप में है । समवायांग का उपांग उसे माना नहीं जा सकता है । उसका रचनाकाल वीर नि.सं. 335–76 निर्धारित किया गया है पर

उसका कोई ठोस आधार सम्पादक ने नहीं दिया । उसमें वस्तुतः असम्बद्धता, क्रमहीनता और अनावश्यक विस्तार दिखाई देता है जो उसे उत्तरकालीन प्रमाणित करता है । यथार्थ में प्रज्ञापना भगवतीसूत्र के समान एक संग्रह ग्रंथ है जो नन्दिसूत्र के पहले लिखा गया है ।

20. षड्खण्डागम और अनुयोगद्वार

अनुयोगद्वार आर्यरक्षित द्वारा रचित माना जाता है प्रवाद के आधार पर । पर उसे प्रवाद की प्राचीनता नितान्त संदिग्ध है । यह गद्यात्मक सूत्रों में लिखा गया है । इसमें 606 सूत्र और 143 गाथाएँ हैं जिनमें श्रुतज्ञान का विशेष वर्णन है । दोनों ग्रन्थों में शब्द और अर्थ की गहरी समानता है। उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय इन चार अनुयोग द्वारों के माध्यम से दृष्टव्य है । फिर भी उनकी कतिपय अपनी विशेषताएँ भी हैं । षड्खण्डागम में वाचना आदि के साथ अनुप्रेक्षा को भी उपयोग के रूप में ग्रहण किया है जबकि अनुयोगद्वार में इसका निषेध किया गया है । षड्खण्डागम में नैगम, व्यवहार, संग्रह, ऋजुसूत्र और शब्द इन पांच नयों का ही उल्लेख हुआ है जबकि अनुयोगद्वार में समभिरूढ एवं एवंभूत को भी संमिलित कर लिया गया है । षड् में शब्दनय को अवक्तव्य कहा गया है जबकि अनुयोगद्वार में उसे अवस्तु कह दिया गया है । ऐसे और भी अनेक प्रसंग हैं जिनसे पता चलता है कि अनुयोगद्वार उत्तरकालीन रचना है और वह एक संग्रह ग्रन्थ है (एत्थ संगहणिगाहाओ 86–88 = सू. 285; 89–90, सू. 286; 101–2, सूत्र 351, 124, सूत्र 533) ।

21. षड्खण्डागम और नन्दिसूत्र

नन्दिसूत्र चूलिकासूत्र है । उसके रचयिता आचार्य देवर्धिगणि का समय वि. सं. 523 माना जाता है। इसमें ज्ञान की प्ररूपणा की गई है । प्रारम्भ में आर्यमंगु और आर्य नागहस्ती का स्मरण किया गया है जिनका उल्लेख दिगम्बर परम्परा में भी आया है । दोनों ग्रन्थों में ज्ञान का वर्णन लगभग एक जैसा है। जो अन्तर है वह इस प्रकार है –

1. नन्दिसूत्र में ज्ञानभेदों और उनकी आवरणक कर्म प्रकृतियों का वर्णन है जो षड्खण्डागम में नहीं मिलता ।

2. षड्खण्डागम में श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित आभिनिबोधिक ज्ञान भेदों या उनके आवारक के ज्ञानभेदों का कहीं भी उल्लेख नहीं है जबकि नन्दीसूत्र में ये उल्लेख मिलते हैं ।

3. षड्खण्डागम में श्रुतज्ञान के प्रसंग में उनके पर्याय और पर्यायसमास आदि बीस भेदों का उल्लेख है जबकि नन्दिसूत्र में आचारादि भेदों में विभक्त श्रुत की विस्तार से चर्चा हुई है ।

इस प्रकार के और भी अनेक प्रमाण है जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि षड्खण्डागम कर्म साहित्य की प्रारम्भिक रचना है जबकि नन्दिसूत्र में उसका उत्तरकालीन विकास प्रतिबिम्बित हो रहा है ।

इसके बाद षट्खण्डागम की भाषा पर भी विचार करना आवश्यक है । इस संदर्भ में सर्वप्रथम हम प्राकृत भाषाओं की विशेषताओं पर विचार करेंगे और बाद में उनके आधार पर षट्खण्डागम की भाषा का निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे।

22. प्राकृत भाषाएँ और उनकी विशेषताएँ

षट्खण्डागम और कसायपाहुड की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत रही है । वीरसेनाचार्य या उनके पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित टीकाओं का भी अधिकांश भाग इसी प्राकृत में लिखा गया है । प्राकृत का सम्बन्ध प्राचीन आर्य भाषा से रहा है जिसे 'इयु' कहा जाता था । इसको बोलने वाला भारोपीय परिवार प्राचीन काल में लिथूनिया से लेकर दक्षिण रूस तक फैला हुआ था । वहीं से वह मैसोपोटामिया आदि होता हुआ भारत पहुंचा । यहां आते–आते उसकी ध्वनियों में परिवर्तन हो गया । ऋग्वेद और अथर्ववेद में उसके प्राचीन रूपों का उल्लेख मिल जाता है । यही जनभाषा विकसित होकर छान्दस् कहलाई । उसके परिष्कृत यास्क ने निरुक्त शास्त्र लिखा और पाणिनि ने उसे साहित्यिक रूप में विकसित किया ।

परवर्ती वैदिक काल में देश्य भाषाओं के तीन रूप मिलते हैं – उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य । प्राच्य भाषा–भाषी यज्ञीय संस्कृति में विश्वास नहीं करते थे । ये लोग व्रात्य कहलाते थे । तीर्थंकर ऋषभदेव उनके आद्यनेता और आध्यात्मिक संस्कृति के प्रणेता थे । महावीर और बुद्ध उसी श्रमण संस्कृति के पोषक थे । पूर्व के ये आर्य व्रात्य संयुक्त, व्यंजन, रेफ एवं सोष्म ध्वनियों का उच्चारण सरलता से नहीं कर पाते थे । संयुक्त व्यंजनों का यही समीकृत रूप प्राकृत ध्वनियों का आधार रहा है । वैदिक भाषा के समानान्तर जो जनभाषा चल रही थी । वही आदिम प्राकृत थी उसी से छान्दस् का निर्माण हुआ और उसी से प्राकृत का विकास हुआ। पाणिनि ने उसी छान्दस् को संस्कृत में परिवर्तित किया। संस्कृत यथावत् बनी रही पर प्राकृत में सतत् विकास होता रहा जो आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप में हमारे सामने है । द्रविण भाषाओं पर भी उसका प्रभाव रहा है । इस तरह प्राकृत एक जनभाषा रही है जिसका उपयोग शिलालेखों में भी होता रहा है ।

प्राकृत के उत्तरकालीन विभिन्न स्तरों में आर्ष प्राकृत अर्थात् पालि, शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृत का महत्तवपूर्ण स्थान है ।

छूटा भाग

पालि का प्राचीन शौरसेनी से जितना अधिक सादृश्य है उतना अन्य किसी बोली से नहीं। अश्वघोष के नाटकों में विदूषक एवं नायिका प्राचीन शौरसेनी में ही बोलते हैं । उत्तरकाल में अर्धमागधी पर भी शौरसेनी का प्रभाव पडा और इसी तरह शौरसेनी आगम अर्धमागधी के प्रभाव से नहीं बच सका। मार्कण्डेय ने प्राकृत सर्वस्व (10.1) में शौरसेनी से प्राच्या का उद्भव माना है । वररुचि ने प्राकृत प्रकाश (12.2) में शौरसेनी का आधार संस्कृत

को माना है और ''शेषं महाराष्ट्रीवत्'' कहकर शौरसेनी के नियमों का विवेचन छोड दिया है । दिगम्बर सम्प्रदाय के आगमों की भाषा शौरसेनी मानी गयी है । अर्धमागधी भी मागधी और शौरसेनी का मिश्रित रूप है ।

मथुरा उत्तरापथ और दक्षिणपथ को जोडने वाले महापथ का प्रधान केन्द्र था । इसलिए यह भाषा यात्रियों के साथ एक ओर पश्चिम की ओर गई वहीं पेशावर और उसके आगे भी गई तो दूसरी ओर कलिंग की ओर भी उसने अपने कदम बढाये जहां से खारवेल के प्रभाव से वह दक्षिण प्रदेश में पहुंची। भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में जैन संघ मगध से उज्जैयिनी और गिरनार होता हुआ कर्नाटक देश में कटवप्र पर्वत श्रवणबेलगोला पहुंचा और उसके साथ शौरसेनी भी वहां की मूल भाषा कन्नड में रचपच गई । दक्षिणवर्ती आचार्यों ने शौरसेनी में भी साहित्य रचना की। पुष्पदन्त, भूतबली, कुन्दकुन्द, यतिवृषभ, शिवार्य आदि का साहित्य इसी शौरसेनी में रहा है । इतना ही नहीं, शिलालेखी और प्राकृत धम्मपदीय निय भाषा भी शौरसेनी प्राकृत की ओर अधिक झुकी है । मृच्छकटिक में भी शौरसेनी का प्रयोग अधिक हुआ है । नागर अपभ्रंश और पश्चिमोत्तर प्रदेशों की बोलियां भी शौरसेनी से उद्भूत हैं।

शौरसेनी मथुरा के आसपास के प्रदेश की भाषा होते हुए भी वह चारों ओर की भाषा बन गई। इसकी विशेषताएँ ये हैं – र का ल कदाचित् ही होता है, तीनों सकारों के स्थान पर स ही होता है, और कर्ता कारक पुल्लिंग एकवचन में ओ होता है । इसकी अन्य विशेषताओं में मुख्य हैं – शब्दों के मध्य में त के स्थान पर द, थ के स्थान पर ध, भ के स्थान पर कहीं कहीं ह और पूर्वकालिक कृदन्त के रूप संस्कृत प्रत्यय त्वा के स्थान पर त्ता, इअ या दूण होता है । जैसे सुतः सुदो भवति – भोदि या होई, कथं – कधं, कृत्वा – करित्ता, करिअ करिदूण आदि।

महाराष्ट्री

महाराष्ट्री प्राकृत साधारण तौर पर महाराष्ट्र की भाषा मानी जाती है जिसका स्वरूप गाथासप्तशती, सेतुबन्ध, गउडवहो आदि काव्यों में पाया जाता है । संस्कृत नाटकों में वार्तालाप शौरसेनी में और गायन महाराष्ट्री में होता है। जैनाचार्यों ने भी इसका खूब प्रयोग किया है। पउमचरिय, समराइच्चकहा, सुरसुन्दरीचरियं, पासणाहचरियं आदि काव्य और श्वेताम्बर आगम सूत्रों के भाष्य, चूर्णि, टीका आदि की भाषा माहाराष्ट्री प्राकृत है । अर्धमागधी की प्रवृत्तियां भी यहां देखी जाती हैं । इसलिए उसे जैन महाराष्ट्री प्राकृत भी कहा जाता है । यहां आदि व, द्वित्व में न, और लुप्त वर्ण के स्थान पर य श्रुति का उपयोग हुआ है जो शौरसेनी में भी मिलता है । महाराष्ट्री में त का लोप होकर उसका स्वर शेष रह जाता है, वह द में परिवर्तित नहीं होता । उसी तरह थ का ध में परिवर्तन न होकर ह में परिवर्तन होता है । क्रिया का पूर्वकालिक प्रत्यय ऊण लगाकर बनाया जाता है । कहीं – कहीं र का ल तथा

प्रथमान्त ए का आ हो जाता है ।

छूटा भाग

28. षट्खण्डागम की भाषा

षट्खण्डागम की भाषा प्राचीन शौरसेनी प्राकृत है । शौरसेनी प्राकृत के विषय में हम पीछे संकेत कर चुके हैं। यहां मात्र उसके कतिपय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं । जिससे शौरसेनी के स्वरूप का आभास हो सके । इसकी पुष्टि के लिए त्रिविक्रम के प्राकृत शब्दानुशासन के सूत्रों का भी उल्लेख कर दिया है । श्री स्व. पं. हीरालाल जैन सि. शास्त्री ने ऐसे उदाहरणों को एकत्रित किया है उनको भी यहां संमिलित कर लिया गया है –

1. स्वरव्यत्यय

वर्णव्यत्यय	संस्कृत	प्राकृत	सूत्र	त्रि. प्रा. शब्दानु.
उ = इ	पुरुष –	पुरिस–	1.1.101	1.2.59
उ = ओ	पुद्गल–	पोग्गल–		
ऋ = इ	ऋद्धि–	इड्ढि –	5.598	1.2.75
ऋ = उ	ऋजुमति–	उजुमदि–	5.5.77	1.2.80
ऋ = रि	ऋषेः–	रिसिस्स–	4.1.44	1.2.91
ऋ = रि	सदृशः–	सरिसो–		1.2.90
ऋ = अ	मृदुनाम–	मउवणामं–	1.9–1.40	1.2.73
ऋ = इ	मृग –	मिय –	5.5.157	1.2.75
ऋ = उ	मृषावाद–	मुसावाद–	4.2–8.3	1.2.85
ऋ = ओ	मृषा–	मोस–	1.1.52	1.2.85
ए = इ	माहेन्द्र–	माहिंद–	5.5.70	1.2.40
ऐ = ए	शैल–	सेल–	4.1.52	1.2.101
औ = ओ	औदारिक–	ओरालिय–	1.1.56	1.2.101
औ = ओ	लौकिक–	लोइय–	5.5.51	1.2.101

2. असंयुक्त व्यंजनका व्यत्यय

क = लोप	लौकिक	लोइय	5.5.51	1.3.8
क = ख	कर्कश	कक्खड	1.9–1.40	1.3.105

क = ग	लोकाः	लोगा	1.2.4	1.3.14
क = य	तीर्थंकर अन्तकृत	तित्थयर अंतयड	1.9–9.216	1.3.10
ख = ह	सुख, द्रोणमुख	सुह, दोणामुमुह	5.5.79	1.3.20
ग = य	भगवान्	भयवं	5.5.79	
ग = य	नगर	णयर	5.5.79	1.3.10
ग–लोप	प्रयोग	पओअ	5.6.23	1.3.8
घ = ह	मेघानाम्	मेहाणं	5.6.23	1.3.20
च–लोप	अप्रचुरः	अपउरा	5.6.127	1.3.8
च = ज	रुचके	रुजगम्मि	5.5.64	
च = य	प्रचला	पयला	1,9–1,16	
ज–लोप	मनुज	मणुअ	5.5.64	1.3.8
ज = य	भाजन	भायण	5.5.18	
ट = ड	कूट	कूड	5.3.30	1.3.31
ठ = ड	पीठानाम्	पीडाणं	5.6.42	
ठ = ढ	पिठर	पिढर	5.5.18	1.3.28
ण = ड	श्रेणी	सेडी	4.2–7.175	
ण = ढ	श्रेणयः	सेढीओ	1.2.17	
त–लोप	गति	गइ	1.1.4	1.3.8
त = ड	प्रतिपद्यतः	पडिवज्जंतस्स	1.9–1.1	1.3.33
त = द	मति	मदि	5.5.79	
त = व	उद्योत	उज्जोव	1.9–1.28	
त = ह	भरत	भरह	5.5.64	1.3.39
थ = ढ	पृथिवी	पुढवि	1.139	1.3.47
थ = ढ	प्रथमायाम्	पढमाए	1.2.19	1.3.48
थ = ध	पृथक्तवेन	पृधत्तेण	2.2.15	1.3.21

थ = ह	मैथुन	मेहुण	4.2–8.5	1.3.20
द–लोप	मृदुक	मउव	1.9–1.40	1.3.8
द = य	द्विपद	दुपय	5.5.157	
द = र	एकादश	एक्कारस	5.6.66	1.3.42
ध = ह	मेधा	मेहा	5.537	1.3.20
प = व	उपघात	उवघाद	1.9–1.42	1.3.55
भ = ह	शुभ	सुह	1.9–1.28	1.3.20
भ = ह	विभंग	विहंग	5.6.19	1.3.20
य–लोप	कायः, कषायः	काए, कसाए	1.1.4	1.3.8
य = ज	योगे	जोगे	1.1.4	1.3.8
र = ल	हारिद्र	हालिद्द	1.9–1,37	1.3.78
श = ह	द्वादश	बारह	1.4.4	1.3.88
ष = छ	षष्ठ्याम्	छट्ठीए	1.9–9.49	1.3.90

3. संयुक्त व्यंजन

क्त = त्त	तिक्त	तित्त	1.9–1.39	1.4.77
क्त्व = त्त	पृथक्त्वेन	प्रधत्तेण	2.2.15	
क्र = क्क	शक्क, शुक्क	सक्क, सुक्क	5.5.70	
क्ल = क्क	शुक्ल	सुक्क	1.1.136	1.4.78
क्ल = क्किल		शुक्ल	सुक्किल	1.9–1.37;
			5.5.127	
क्ष = ख	क्षपकाः	खवा	1.1.16–18	1.4.8
क्ष = क्ख	पक्षी	पक्खी	5.5.157	
ग्म = म्म	युग्म	जुम्म	4.2–7.198	1.4.47
ग्र = ग	ग्रन्थिम	गंथिम	4.1.65	1.4.78
ग्र = ग्ग	विग्रह	विग्गह	1.1.60	,,

ग्र्य = ग्ग	अग्र्य	अग्ग	5.5.51	
ज्ञ = ण	ज्ञानी	णाणी	1.1.145	1.4.37
ज्य = ज	ज्योतिष्क	जोइसिय	1.1.96	
ज्र = ज्ज	वज्र	वज्ज	1.9–1.36	1.4.98
ज्र = इर	वज्र	वइर	5.5.126	1.4.98
च = ण्ण	पश्चाशतः	पण्णासाए	4.2–6.108	1.4.36
त्त = ट्ट	मृत्तिका	मट्टिय	4.1.71	1.4.31
त्त्व = च्च	तत्तवं	तच्चं	5.5.51	1.4.65
त्य = च	त्यक्त	चत्त	4.1.63	
त्य = च्च	सत्य	सच्च	1.1.49–52	1.4.17
त्य = त्त	प्रत्येक	पत्तेय	1.1.41	
त्र = त्त	क्षेत्रे	खेत्ते	1.3.2	1.4.78
त्र = त्थ	तत्र	तत्थ	1.1.2	2.1.7
त्व = त	त्वक्	तय	5.3.4	
त्स = च्छ	श्रीत्वस	सिरिवच्छ	5.5.59	
थ्य = च्छ	मिथ्यादृष्टिः	मिच्छाइट्ठी	1.1.9	1.4.23
द्घ = ग्घ	समुद्घात	समुग्घाद	1.1.60	
द्घ = ह	समुद्घतः	समुहदो	4.2–5.9	
द्ध = ज्झ	विशुद्धता	विसुज्झदा	3.41	
द्ध = ड्ढ	वृद्धि	वुड्ढी	5.5.66	1.4.35
द्भ = ब्भ	सद्भाव	सब्भाव	5.6.8–9	
द्म = म्म	पद्म	पम्म	1.1.136	
द्य = ज्ज	विद्युतां	विज्जूणं	5.6.37	1.4.24
द्र = द्द	समुद्र	समुद्द	1.1.157	1.4.80
द्वि= दु	द्विपद	दुवय	5.5.157	1.2.48

ध्य = ज्झ	उपाध्यायानाम्	उवज्झायाणं	1.1.1	1.4.26
न्म = म्म	जन्मना	जम्मणेण	4.2–4.59	1.4.48
न्य = ण्ण	अन्योन्याभ्यास	अण्णोण्णब्भास	1.2.22	
प्य = प्प	स्थाप्यः	थप्पो	5.6.37	
प्र = प	प्रमत्त	पमत्त	1.1.14	
प्र = प्प	अंगमलप्रभृतीनि	अंगमलप्पहुडीणि	5.6.37	
ब्द = द्द	शब्दादयः	सद्दादओ	4.1.50	
भ्य = ब्भ	अभ्युत्थितः	अब्भुट्ठिदो	4.2–4.74	
भ्र = ब्भ	बभ्रेण, दभ्रेण	बब्भेण, दब्भेण	5.6.41	
म्य = म्म	सम्यक्	सम्मं	5.5.108	
र्क = क्क	तर्कं	तक्कं	5.5.98	1.4.78
र्क = क्ख	कर्कश	कक्खड	1.9–1.40	
र्ग = ग्ग	वर्गः	वग्गो	1.2.98	
र्घ = ह	दीर्घः	दीहे	4.1.55	
र्च = च्च	अर्चनीयाः	अच्चणिज्जा	3.42	
र्ज = ज्ज	वर्ज	वज्ज	1.9–2.14	
र्ण = ण्ण	उदीर्णा	उदिण्णा	4.2–10.9	
र्त = ट्ट	परिवर्तम्	परियट्टं	1.5.4	1.4.30
र्त = त्त	परिवर्तमान	परियत्तमाण	4.2–7.32	
र्ध = ड्ढ	वर्धमान	वड्ढमाण	4.1.44	
र्प = प्प	तर्पण	तप्पण	5.5.18	
र्भ = ब्भ	गर्भोपक्रान्तिकेषु	गब्भोवक्कंतिएसु	1.9–9.17	
र्म = म्म	कर्म	कम्मं	1.9–1.1	
र्य = ज्ज	पर्याप्तः	पज्जत्ता	1.1.34	1.4.24
र्ल = ल्ल	निर्लेपन	णिल्लेवण	5.6.652–53	

र्व = व्व	पूर्व, पर्व	पुव्व, पव्व	5.5.60	
र्ष = स्स	वर्ष	वस्स, वास	2.2.2 ; 1.9–6.14	
व्य = व	व्यवहार	ववहार	4.2–2.2	
व्य = व्य	कर्तव्यः	कादव्वो	1.9–4.1	
श्न = ण्ण	प्रश्न	पण्ण	5.6.19	1.4.69
ष्ट = ठ	दृष्टिः	दिट्ठी	1.1.9	1.4.14
ष्ण = ण्ह	कृष्ण	किण्ह	1.9.137	1.4.69
स्क = ख	स्कन्ध	खंध	5.6.68	1.4.6
स्त = थ	स्तव–स्तुति	थय–थुदि	4.1.55	1.4.40
स्थ = ठ	स्थापनाकृतिः	ठवणकदी	4.1.46	
स्न = न	स्निग्ध	णिद्ध	1.9–1.40	
स्प = फ	स्पर्श	फास	5.3.2	
स्म = स	स्मृतिः	सदी	5.5.41	
स्रा = स्स	सहस्राणि	सहस्साणि	2.2.2	
स्व = स	स्वस्थानेन	सत्थाणेण	2.6.4	
ह्म = म्ह	ब्रह्म	बम्ह	5.5.70	1.4.67
ह्न = ब्भ	जिह्वेन्द्रिय	जिब्भिदिय	5.5.26	1.4.51

छूटा भाग

30. षड्खण्डागम की प्रतिलिपि

प्रथम संस्करण की भूमिका में डॉ. हीरालालजी ने षट्खण्डागम की प्रतिलिपि करने का इतिहास बताते हुए लिखा है कि षड्खण्डागम की मूल ताडपत्र प्रति वर्तमान में मूडबिद्री की जैन सिद्धान्त वसदि में सुरक्षित है । यह प्रति होयसल राजा बिट्टिवर्धन और उसकी महारानी शान्तला के काल में लिखी गई थी (1113 ई.) । इसके बाद उसकी दो प्रतिलिपियां की गईं – पहली प्रति गंग नरेश भुजबल के समय रारी बाचलदेवी ने बन्निकेरे चैत्यालय के प्रमुख

शुभचन्द्रदेव से 1119 ई. में और दूसरी प्रतिलिपि – शान्तिसेन राजा की महिषी मल्लिकब्बे ने माघनन्दि से लगभग इसी समय करायी ।

धवला की यह पाण्डुलिपि प्राचीन कन्नड हडे लिपि में ताडपत्र पर श्रवणवेलगोला के सिद्धान्त वसदि में लिखी गयी थी । लगभग 1600 ई. के बाद ये प्रतिलिपियां मूडबिद्री ले जायी गईं । षड्खण्डागम की इस कन्नड पाण्डुलिपि में 592 पत्र हैं जो 27 इंज चौडे और 3 इंच लम्बे हैं ।

सर्वप्रथम पण्डित टोडरमल (1719 – 1766 ई.) ने इस पाण्डुलिपि को देखा और उसे मूडबिद्री से बाहर लाने पर विचार किया जिसमें वे सफल नहीं हो सके । बाद में सोलापुर के श्री माणिकचन्द्र ने 1883 में उसे मूडबिद्री में देखा। 1896 से 1922 तक लगातार वे इस प्रयत्न में रहे और मूडबिद्री के अधिकारियों को समझाते रहे । अन्ततः वे इसमें सफल रहे । तब इस पुनीत कार्य के लिए छह विद्वान प्रतिलिपिकर्ता के रूप में नियुक्त किये गये । कन्नड प्रतिलिपि पं. देवराज सेठी, शान्तप्पा उपाध्याय और ब्रह्मय्या इन्द्र द्वारा की गई । यह लगभग 1 फुट 2 इंच लम्बे और 6 इंच चौडे कागज पर है । यह भी मूडबिद्री के गुरुवसदि मंदिर में सुरक्षित है । इसमें 2800 पन्ने हैं । प्रतिलिपि होने के बाद मठाधिकारी प्रतिलिपि को बाहर भेजने के लिए सहमत नहीं हुए । संयोग से गुप्त रूप से की गई एक कन्नड प्रति सहारनपुर पहुंच गई और उससे फिर श्री गजपति शास्त्री और उनकी पत्नी लक्ष्मीबाई तथा सीताराम शास्त्री ने हिन्दी प्रतिलिपियां तैयार कीं 1926 में जिन्हें आरा, सागर आदि स्थानों पर भेजा गया ।

महासभा के 1935 के इटारसी अधिवेशन में इसके सम्पादन का उत्तरदायित्व डॉ. हीरालाल जैन को सौंपा गया जिन्होंने सर्वश्री पं. देवकीनन्दन शास्त्री, डॉ. ए. एन उपाध्ये, बालचन्द्र सि. शास्त्री, हीरालाल सि. शा., फूलचन्द सि. शा. आदि विद्वानों के सहयोग से उसे 16 अंगों में 1939 से प्रकाशित करना चालू किया और 1958 में समाप्त किया । बीस वर्षों के इन विद्वानों के सतत परिश्रम के बाद षड्खण्डागम का मूर्त रूप हमारे सामने आ सका । इन भागों में मूल पाठ, उसका मूलानुगामी अनुवाद, यत्र–तत्र विशेष स्पष्टीकरण व तुलनात्मक टिप्पण तथा कुछ ऐतिहासिक विवेचन व पारिभाषिक शब्दों की सूचियां मात्र प्रस्तुत की जा सकी हैं । स्व. डॉ. हीरालाल जी के अनुसार अभी भी इसके सम्बन्ध में विशेष रूप से निम्नकार्य अवशिष्ट हैं :–

1. इसके मूल पाठ का एक बार सावधानी से मूडबिद्री के तीन उपलभ्य ताडपत्रीय प्रतियों से मिलान व पाठ भेदों का अंकन । इस कार्य के लिए उक्त प्रतियों के फोटो का भी उपयोग किया जा सकता है ।

2. इसके विषय का समस्त जैनकर्म सिद्धान्त सम्बन्धी दिगम्बर और श्वेताम्बर तथा वैदिक और बौद्ध साहित्य के साथ तुलनात्मक अध्ययन व पाश्चात्य दर्शन प्रणाली से उसका

विवेचन ।

3. सूत्रों और टीका का प्राकृत सम्बन्धी अध्ययन ।

31. आदर्श प्रतियां

प्रस्तुत षट्खण्डागम (धवला टीका सहित) के सम्पादन में डॉ. हीरालालजी ने निम्नलिखित प्रतियों का उपयोग किया –

1. आ – आरा सिद्धान्त भवन की प्रति जिसकी कापी सीताराम शास्त्री ने वि. सं. 1983 में पूर्ण की थी । इसके कागज की लम्बाई 14.5 इंच और चौड़ाई 6.5 इंच है और पत्रों की कुल संख्या 1127 है ।

2. अ – परवार दि. जैन मन्दिर अमरावती में सुरक्षित है । इसकी प्रति 17 इंज लम्बे और 7 इंच चौडे कागज पर की गई । कुल पत्र सं. 1465 है । इसकी प्रतिलिपि बटुक प्रसाद कायस्थ ने सं. 1985 में की थी ।

3. क – यह प्रति महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारंजा में रखी हुई है । इसकी प्रतिलिपि सीताराम शास्त्री सं. 1988 में की थी । इसके पन्ने 13.5 इंच लम्बे और 6.5 इंच चौडे हैं । कुल पत्रों की संख्या 1412 है ।

4. स – सहारनपुर की प्रतिलिपि ।

5. ता – ताडपत्र प्रति

6. मु. मुद्रित प्रति

बाद में सर्वश्री पं. बालचन्द्र सि. शास्त्री ने चन्द्रराजय्या शास्त्री के साथ मिलकर पाठभेद लिये और प्रो. भोमाज ने भी उसमें सहयोग दिया । पं. रतनचन्द्रजी मुख्तार, जवाहर लाल शास्त्री भिण्डर आदि विद्वानों ने भी बाद में उसे और देखा। इन सभी विद्वानों द्वारा सुझाये गये पाठभेदों का उपयोग द्वितीय संस्करण में यथासम्भव किया गया है । इन संस्करणों में डॉ. हीरालालजी आदि विद्वानों ने निम्न प्रकार से पाठ संशोधन के नियम प्रस्थापित किये हैं –

32. पाठ संशोधन के नियम

1. प्रस्तुत ग्रंथ के पाठ संशोधन में ऊपर बतलाई हुई अमरावती, सहारनपुर, कारंजा और आरा की चार हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया गया है । यद्यपि ये सब प्रतियां एक ही प्रति की प्रायः एक ही व्यक्ति द्वारा गत पंद्रह वर्षों के भीतर की हुई नकलें हैं, तथापि उनसे पूर्व की प्रति अलभ्य होने की अवस्था में पाठ–संशोधन में इन चार प्रतियों से बहुत सहायता मिली है ।

2. जहां पर प्रतियों के पाठ–मिलान मात्र से शुद्ध पाठ नहीं मिल सका वहां पहले यह

विचार किया गया है कि क्या कनाड़ी से नागरी लिपि करने में कोई दृष्टि–दोषजन्य भ्रम वहां संभव है ?ऐसे विचार द्वारा हम निम्न प्रकार के संशोधन कर सके –

(अ) प्राचीन कनाड़ी में प्राकृत लिखते समय अनुस्वार और वर्ण–द्वित्व–बोधक संकेत एक बिन्दु ही होता है, भेद केवल इतना है कि अनुस्वार का बिन्दु कुछ छोटा (॰) और द्वित्वका कुछ बड़ा (॰) होता है । फिर अनुस्वार का बिन्दु वर्ण के पश्चात् और द्वित्वका वर्ण से पूर्व रखा जाता है । अतएव लिपिकार द्वित्वको अनुस्वार और अनुस्वार को द्वित्व भी पढ़ सकता है ।

(1) अनुस्वार के स्थान पर अगले वर्ण का द्वित्व –
अंगे गिज्झा–अंगग्गिज्झा (पृ. 6), लक्खणं खइणो–लक्खणक्खइणो (पृ. 15) संबंध–संबद्ध (पृ. 25,292) वंस–वस्स (पृ. 110) आदि ।

2) द्वित्व के स्थान पर अनुस्वार – भग्ग–भंग (पृ. 49) अक्कुलेसर–अंकुलेसर (पृ. 71) कक्खा–कंखा (पृ. 73) समिइवइस्सया दंतं – समिइवइं सया दंतं (पृ. 7) सव्वेयणी–संवेयणी (पृ. 104) ओरालिय त्ति ओरालियं ति (पृ. 291) पावग्गालिय–पावं गालिय (पृ. 48) पडिमव्वा–पडिमं वा (पृ. 58) इत्यादि ।

(आ) कनाड़ी में द और ध प्रायः एक से ही लिखे जाते हैं जिससे एक दूसरे में भ्रम हो सकता है ।

द–ध, दरिद–धरिद (पृ. 29) ध–द, दृविध–दृविद (पृ. 20) हरधणु हरदणु (पृ. 273) इत्यादि।

(इ) कनाड़ी में थ और ध में अन्दर केवल वर्ण के मध्य में एक बिंदु के रहने न रहने का है, अतएव इनके लिखने पढ़ने में भ्रान्ति हो सकती है । अतः कथं के स्थान पर कधं और इसको तथा पूर्वोक्त अनुस्वार द्वित्व–विभ्रम को ध्यान में रखकर संबंधोवा के स्थान पर सव्वत्थोवा कर दिये गये हैं।

यद्यपि शौरसेनी के नियमानुसार कथं आदि में थ के स्थान पर ध ही रक्खा है, किंतु जहां करने से किसी अन्य शब्द से भ्रम होने की संभावना हुई वहां थ ही रहने दिया । उदाहरणार्थ – किसी किसी प्रति में 'गंथो' के स्थान पर 'गधो' भी है किंतु हमने 'गंथो' ही रक्खा है ।

(ई) ह्रस्व और दीर्घ स्वरों में बहुत व्यत्यय पाया जाता है, विशेषतः प्राकृत रूपों में । इसका कारण यही जान पड़ता है कि प्राचीन कनाड़ी लिपि में ह्रस्व और दीर्घ का कोई भेद ही नहीं किया जाता। अतः संशोधन में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व व्याकरण के नियमानुसार रक्खा गया है ।

(उ) प्राचीन कनाड़ी ग्रंथों में बहुधा आदि ल के स्थान पर अ लिखा मिलता है जैसा कि प्रो. उपाध्येने परमात्मप्रकाश की भूमिका में (पृ. 83 पर) कहा है । हमें भी पृ. 326 की अवतरण

गाथा नं. 169 में 'अहइ' के स्थान पर 'लहइ' करना पड़ा ।

3. प्रतियों में न और ण के द्वित्व को छोड़कर शेष पंचमाक्षरों में हलंत रूप नहीं पाये जाते । किंतु यहां संशोधित संस्कृत में पंचमाक्षर यथास्थान रक्खे गये हैं ।

4. प और य में प्राचीन कनाड़ी तथा वर्तमान नागरी लिपि में बहुत भ्रम पाया जाता है । यही बात हमारी प्रतियों में भी पाई गई । अतः संशोधन वे दोनों यथास्थान रक्खे गये हैं ।

5. प्रतियों में ब और व का भेद नहीं दिखाई देता, सर्वत्र व ही दिखाई देता है । अतः संशोधन में दोनों अक्षर यथास्थान रक्खे गये हैं । प्राकृत में व या ब संस्कृत के वर्णानुसार रक्खा गया है।

6. 'अरिहंतः' संस्कृत में अकारांत के रूप से प्रतियों में पाया जाता है । हमने उसके स्थान पर संस्कृत नियमानुसार अरिहंता ही रक्खा है ।

7. ग्रंथ में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का खूब उपयोग हुआ है, तथा प्रतियों की नकल करने वाले संस्कृत के ही जानकार रहे हैं । अतः बहुत स्थानों पर प्राकृत के बीच संस्कृत के और संस्कृत के बीच प्राकृत के रूप आ गये हैं । ऐसे स्थानों पर शुद्ध करके उनके प्राकृत और संस्कृत रूप ही दिये गये हैं । जैसे, इदि–इति, वर्ण–वनं, गदि–गति आदि ।

8. प्रतियों में अवतरण गाथाएं प्रायः अनियमित रूप से उक्तं च या उत्तं च कहकर उद्धृत की गई हैं । नियम के लिये हमने सर्वत्र संस्कृत पाठ के पश्चात् उक्तं च और प्राकृत पाठ के पश्चात् उत्तं च रक्खा है ।

9. प्रतियों में संधि के संबंध में भी बहुत अनियम पाया जाता है । हमने व्याकरण के संधि संबंधी नियमों को ध्यान में रखकर यथाशक्ति मूल के अनुसार ही पाठ रखने का प्रयत्न किया है, किंतु जहां विराम चिन्ह आ गया है वहां संधि अवश्य ही तोड़ दी गई है ।

10. प्रतियों में प्राकृत शब्दों के लुप्त व्यंजनों के स्थानों में कहीं य श्रुति पाई जाती है और कहीं नहीं। हमने यह नियम पालने का प्रयत्न किया है कि जहां आदर्श प्रतियों में अवशिष्ट स्वर ही हो वहां यदि संयोगी स्वर अ या आ हो तो य श्रुतिका उपयोग करना, नहीं तो य श्रुतिका उपयोग नहीं करना। प्रतियों में अधिकांश स्थानों पर इसी नियम का प्रभाव पाया जाता है । पर ओ के साथ भी बहुत स्थानों पर य श्रुति मिलती है और ऊ अथवा ए के साथ कदाचित् ही, अन्य स्वरों के साथ नहीं ।

(1) ओ के साथ य श्रुति के उदाहरण –
मणियो, जाणयो, विसारयो, पारयो, आदि ।

(2) ऊ के साथ – वज्जियूण

(3) ए के साथ – परिणयेण (परिणतेन) एक्कारसीये, आदीये, इत्यादि ।

33. प्रस्तुत संस्करण

डॉ. हीरालालजी ने षड्खण्डागम के 16 वें भाग के सम्पादकीय वक्तव्य में उपर्युक्त अवशिष्ट कार्यों का संकेत करते हुए यह भी आशा व्यक्त की थी कि इन कार्यों को भावी पीढी पूरा करने का प्रयत्न करेगी। जैनदर्शन के मर्मज्ञ परम पूज्य भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी ने इन अवशिष्ट कार्यों को पूरा करने पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया और सभी प्राकृत ग्रन्थों के मूल रूप को नये ढंग से प्रकाशित करने का निर्णय लिया जिसका उत्तरदायित्व मुझे सौंप दिया । इस योजना के अन्तर्गत ही षड्खण्डागम का प्रस्तुत संस्करण प्रकाशित हो रहा है । इसके सम्पादन में मैंने जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर के संस्करणों को ही आदर्श माना है। इस योजना की जानकारी जब काका रतनचन्दजी शहा को दी तो उन्होंने पाठान्तर सम्बन्धी सारी सामग्री तुरन्त भेज दी । यह सामग्री लगभग 2000 पृष्ठों की थी जिसका पूरा–पूरा उपयोग करना समय सापेक्ष था । फिर भी यथासंभव उसका हमने उपयोग किया है । वैसे उत्तरकालीन संस्करणों में इनका प्रायः उपयोग हो ही चुका है जो प्रस्तुत संस्करण के आधार रहे हैं । प्रस्तुत संस्करण के लिए हमने 1965 में सोलापुर से प्रकाशित ब्र. पं. सुमतिबाई शहा द्वारा संपादित षट्खण्डागम का आधार लिया है और परिशिष्ट आदि में भी यथावश्यक उसका उपयोग किया है ।

तीसरा कार्य सूत्रों और टीका का प्राकृत भाषा सम्बन्धी अध्ययन था । इस विषय में श्रद्धेय डॉ. हीरालाल जी से मेरी व्यक्तिगत अनेक बार चर्चा हुई । ई. सन् 1970 के आसपास जब वे हमारे नागपुर विश्वविद्यालय के पालि–प्राकृत अभ्यासमण्डल की बैठक के सन्दर्भ में नागपुर आया करते थे, उनका स्पष्ट कहना था कि प्रतिलिपिकारों ने भाषा के मूल रूप को सुरक्षित नहीं रखा। वे यथासमय उसमें परिवर्तन करते रहे । फलतः षड्खण्डागम आदि प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों में पाठों के विविध रूप दिखाई देते हैं । मूल ग्रन्थ के एक ही पेराग्राफ में यह विविध रूप में दिखाई देता है। टीकाकारों ने भी उन पाठों को अपने–अपने ढंग से ग्रहण किया है । इस रूप को हमने प्राकृत के विकासात्मक सोपानों के आधार पर प्रारम्भिक भाग में यथावश्यक पाठों को सुझाव रूप नमूने के तौर पर प्रस्तुत किया है । आशा है, विद्वान उस पर विचार करेंगे । टीकाओं तथा अन्य प्रतियों का भी उपयोग इस सन्दर्भ में किया गया है । हां, प्राकृत भाषा सम्बन्धी विशेष अध्ययन अवश्य नहीं किया जा सका समयाभाव के कारण । उसे आगामी क्रम में करने का प्रयत्न करेंगे।

इस संस्करण को तैयार करने में आध्यात्मिक मनीषी जैनदर्शन के गंभीर विद्वान पूज्य स्वामीजी का स्नेहिल पथ दर्शन और सान्निध्य हमारा सम्बल रहा है । उन्हीं के निर्देशानुसार यह सुन्दर संस्करण आपके समक्ष है मेरी पत्नी डॉ. पुष्पलता जैन ने भी भाषाविज्ञान विषयक अनेक सुझाव दिये जिनका उपयोग इस संस्करण में किया गया है । इस प्रकार के प्रत्यक्ष –

अप्रत्यक्ष रूप में सभी सहयोग देने वालों के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूं । उन विद्वानों को भी कैसे भुलाया जा सकता है जिनके ग्रन्थों का उपयोग हमने भरपूर किया है । ऐसे विद्वानों में पं. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, पं. बालचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, पं. फूलचंद सिद्धान्त शास्त्री एवं डॉ. हीरालाल जैन आदि विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । उन सभी विद्वानों की गंभीर विद्वत्ता को प्रणाम करते हुए उनके प्रति पुनः कृतज्ञतापूर्वक नतमस्तक हूं ।

डॉ. भागचन्द्र जैन

महाबंध
उपस्थापना

दिगम्बर जैन परम्परा में धवल, जयधवल और महाधवल नामक सिद्धान्तग्रन्थों को बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ आगम के रूप में सम्मान दिया जाता रहा है। आचार्य वीरसेन द्वारा षड्खण्डागम पर लिखी टीका को धवल, कसायपाहुड पर लिखी टीका को जयधवल और षट्खण्डागम के अन्तिम खण्ड महाबन्ध को महाधवल की संज्ञा दी गई है। आचार्य पुष्पदन्त ने मात्र 177 गाथाओं में षड्खण्डागम के प्रथम जीवट्ठाणनामक अध्याय के प्रारम्भिक सत्प्ररूपणा नामक अधिकार की रचना की थी और शेष भाग को आचार्य भूतबलि ने पूरा किया था। षट्खण्डागम का अन्तिम छठा भाग महाधवल (महाबन्ध) भी उन्हीं की रचना है ऐसा धवला टीका के अवतरण से निश्चित होता है – एदेसिं चदुण्हं बंधाणं भूतबलिभडारएण माहबंध सप्पवंचेठा लिहिदं ति। यह महाबंध लगभग 40 हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ है जिसपर कोई टीका नहीं मिलती। आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम के प्रथम पांच खण्डों पर धवला नामक लगभग साठ हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी। पर महाबन्ध पर उन्होंने अपनी कोई लेखनी नहीं चलाई। महाबन्ध में आचार्य भूतबलि ने अपने प्रतिपाद्य विषय को बडी विशदता पूर्वक प्रस्तुत किया है इसलिए इसे महाधवल भी कहा गया है। शायद इसीलिए इस पर किसी टीका की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इस महाधवल के अध्ययन से कर्मों की निर्जरा होने में भी सहायता मिलती है।

महावीर निर्वाण के बाद होनेवाली आचार्य परम्परा 683 वर्ष के बीच समाप्त हो जाती है। धवला और जयधवला टीका के अनुसार लोहाचार्य के बाद अंग और पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परा से गुणधराचार्य और धरसेन को मिला और धरसेन ने अपना श्रुतज्ञान आचार्य पुष्पदन्त–भूतबलि को दिया। इन आचार्यों के समय में अधिक अन्तर नहीं रहा। विद्वानों ने आचार्यों का समय ई.पू. प्रथम शताब्दी से लेकर ई. प्रथम शताब्दी के बीच रखा है।

आचार्य धरसेन अंग तथा पूर्व के एकदेश के ज्ञाता थे और सौराष्ट्र के गिरिनगर पत्तन की चन्द्रगुफा में ध्यान करते थे। उन्होंने आचार्य महासेन की अध्यक्षता में महिमानगरी में हो रहे मुनिसम्मेलन को पत्र लिखकर दो मुनियों को निमन्त्रित किया और उनकी परीक्षा लेकर उन्हें सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन कराया। वे दोनों मुनि पुष्पदन्त–भूतबलि के नाम से प्रसिद्ध हुए। यही गिरिनगर सौराष्ट्र की राजधानी के रूप में प्रसिद्ध रहा है। यहां मौर्य क्षत्रप और गुप्तकाल के महत्त्वपूर्ण अभिलेख पाये जाते हैं। तीर्थंकर नेमिनाथ ने यहीं से मोक्ष प्राप्त किया था। इसी को प्राचीन काल में ऊर्जयन्त कहा जाता था। आज वही जूनागढ के नाम से जाना जाता है। जूनागढ की इन गुफासमूह में कुछेक चैत्यगुफाएं हैं जो बौद्ध सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं और दूसरी ऐसी गुफाएं और शालाग्रह हैं जिनमें जैनधर्म के स्वस्तिक, मीनयुगल, भद्रासन, नन्दीपद, कलश जैसे प्रशस्त चिन्ह पाये जाते हैं। ऐसे ही चिन्ह मथुरा के जैन स्तूप की खुदाई से प्राप्त आयागपट्टों पर उपलब्ध होते हैं। यहीं एक शिलालेख पर केवली देवासुरनागयक्षराक्षस जरामरण आदि जैसे जैन पारिभाषिक शब्दों को पढा गया है। लिपि और इतिहास के आधार पर इसे प्रथम शताब्दी के आसपास का माना गया है। यही समय धरसेनाचार्य का माना जाता है। ये गुफाएं ''बाबा प्यारा मठ' की समीपवर्ती गुफाएं हैं जो चन्द्रगुफा के नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्भवतः उपर्युक्त शिलालेख धरसेनाचार्य के समाधिमरण का उल्लेख कर रहा होगा। श्रुतावतार में इस घटना

का विस्तृत वर्णन मिलता है। षट्खण्डागम के पूर्ण होने के उपलक्ष में ही श्रुतपंचमी पर्व मनाया जाता है।

आगम ग्रन्थ प्रकाशन

धवल, जयधवल, महाधवल (महाबंध) आदि जैसे शौरसेनी प्राकृत आगमों के संरक्षण में श्रवणबेलगोल और मूडबिद्री जैसे संस्थानों का बडा योगदान रहा है। प्रारम्भ में इन ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां श्रवणबेलगोल जैन मठ में सुरक्षित थीं। बाद में उन्हें मूडबिद्री में स्थानान्तरित कर दिया गया। इनकी एक मात्र प्रति यहीं थी, अन्यत्र नहीं। इसलिए उनके दर्शन भी दुर्लभ थे। ताडपत्र प्रति पुरानी हळे कन्नड लिपि में थी। व्यवस्थापकों की असावधानीवश उसका प्रारम्भिक भाग नष्ट हो गया।

संयोग से सन् 1883 में सेठ हीराचन्द सोलापुर और माणिकचन्द जैन बम्बई से जैन बिद्री (श्रवणबेलगोल) पहुंचे। उन्होंने पं. ब्रह्मसूरि शास्त्री के माध्यम से इन ग्रन्थों का स्वाध्याय किया और उनकी उपयोगिता समझकर सेठ नेमिचन्द्र सोनी (अजमेर) और पं. गोपालदास वरैया के सहयोग से इन ग्रन्थों को मुद्रित कराने की योजना बनाई। पं. ब्रह्मसूरि शास्त्री और गजपति उपाध्याय से इन ग्रन्थों की देवनागरी लिपि में प्रतिलिपि कराई जो 16 वर्षों में पूरी हो सकी। इस बीच श्री देवराज सेट्टि, शान्तप्पा उपाध्याय और ब्रह्मराज इन्द्र ने कन्नड भाषा में भी एक प्रतिलिपि कर ली। इसी तरह पं. गजपति उपाध्याय ने अपनी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाई के सहयोग से भी एक कन्नडी प्रतिलिपि गुप्त रूप से करा ली। उपाध्यायजी ने यह प्रति श्री जम्बूप्रसाद रईस, सहारनपुर को बेच दी। उन्होंने पं. विजय चन्द्रैय्या और सीताराम शास्त्री से देवनागरी में प्रतिलिपि कराई जो सात वर्षों में पूरी हो सकी। सीतारामजी शास्त्री ने भी एक प्रति गुप्त रूप से कर ली जिसके आधार पर अन्य प्रतिलिपियां तैयार कराकर आरा, सागर, सिवनी, दिल्ली, बम्बई, कारंजा, इन्दौर, व्यावर, अजमेर, झालरापाटन आदि स्थानों पर पहुंचा दी गईं। यह तो कहानी हुई धवल और जयधवल की।

सेठ हीराचन्द्र जी के प्रयत्न से महाबंध की प्रतिलिपि करने का उत्तरदायित्व पं. लोकनाथ शास्त्री को सौंपा गया। यह कार्य सन् 1918 से 1922 तक चला। पं. नेमिराज जी ने इसकी एक प्रति कन्नड में भी कर ली। उस जमाने में इन तीनों महाग्रन्थों की प्रतिलिपि कराने में लगभग बीस हजार रुपये व्यय हुए और छब्बीस वर्ष लगे।

महाबन्ध की प्रतिलिपि कराने में सेठ रावजी सखाराम दोशी और पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर का विशेष योगदान रहा। इसके साथ ही पण्डिताचार्य भट्टारक चारुकीर्तिजी श्रवणबेलगोल, पं. शान्तराज शास्त्री, सेठ हुकुमचन्द्र इन्दौर, मंजैय्या हेगडे धर्मस्थल, रधुचन्द्र बल्लाल मेंगलोर, सेठ भागचन्द्र सोनी, जिनराज हेगडे, धर्मपाल श्रेष्ठि मूडबिद्री, गुलाबचन्द, हीराचन्द सोलापुर, ब्र. जीवराजजी आदि महानुभावों का भी सहयोग रहा। इन सभी के सहयोग से पं. लोकनाथ शास्त्री, नागराजजी, और देवकुमारजी के सान्निध्य में महाबन्ध की प्रतिलिपि का कार्य 30 दिसम्बर 1941 को प्रारम्भ हुआ और एक वर्ष में वह पूरा हो गया। बाद में उसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से सात भागों में हुआ। सन् 1947 में प्रथम भाग का सम्पादन और हिन्दी अनुवाद पं. सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर ने किया और शेष भागों का उत्तरदायित्व पं. फूलचन्द्रजी ने वहन किया।

सम्पादन प्रक्रिया

महाबन्ध की मूल प्रति ताडपत्र पर कन्नडलिपि में है। भाषा शौरसेनी प्राकृत है। यह कन्नडलिपि पुरानी हळे कन्नड लिपि है। इसके 219 ताडपत्र हैं। इसके प्रारम्भ के 26 ताडपत्रों का महाबन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनमें सत्कर्मपंजिका नामक षड्खण्डागम की टीका विद्यमान है। महाबन्ध का प्रारम्भिक ताडपत्र अनुपलब्ध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ के 14 पत्र नष्ट हो चुके हैं और उनमें लिखित लगभग

तीन–चार हजार श्लोक प्रमाण शास्त्र सदा के लिए विलुप्त हो गये हैं। पू. आचार्य शान्तिसागरजी के सत्प्रयत्नों से उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों को सेठ गेंदनमल की ओर से ताम्रपत्रों में सुरक्षित किया गया।

महाबन्ध की ताडपत्र प्रति लगभग 800 वर्ष पुरानी है। उसमें 178 पत्र हैं। इनकी जैसे–जैसे प्रतियां होती गईं, अशुद्धता बढती गई। प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से उन्हें शुद्ध नहीं कहा जा सकता। इन ग्रन्थों की एक प्रतिलिपि लगभग 800 वर्ष पूर्व महारानी मल्लिका देवी ने पंचमीव्रत के उद्यापन के उपलक्ष में कराई थी जिसे उन्होंने मुनिराज मेघनन्दि महाराज को समर्पित की थी। इन प्रतिलिपियों में स्वभावतः नये–नये प्राकृत पाठों का आहरण होता रहा। इससे नये और पुराने पाठ मिश्रित हो गये। षड्खण्डागम में यह मिश्रण अधिक दिखाई देता है।

कहा जाता है, महाबन्ध पर तुम्बलूर नामक आचार्य ने एक कन्नड टीका लिखी थी जो आज उपलब्ध नहीं है। पं. फूलचन्द्र जी ने पं. सुमेरुचन्द्र शास्त्री तथा पं. लोकनाथ शास्त्री की प्रतिलिपियों का जब अध्ययन किया तो उन्हें उनमें अनेक पाठान्तर मिले जो प्रमादवश रह गये। पं. जी ने उसकी एक सूची भाग 2 की प्रस्तावना में दी है। उन्होंने पाठ संशोधन की कतिपय विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है–

1) स्खलित पाठों को अर्थ और प्रकरण की दृष्टि से विचारकर रू, कोष्ठक के भीतर रखा गया है।

2) असंगत पाठों को टिप्पणी में देकर मूल में संशोधित कर दिया गया है।

3) हृस्व और दीर्घ इकार को यथावश्यक ठीक किया गया है।

4) अशुद्ध लेखन को शुद्ध कर दिया गया है।

5) वाक्य या शब्द की पूर्ति 0 बिन्दु रखकर की गई है।

6) पं. जी ने इसी प्रकार के अन्य संशोधन भी किये हैं जिनका उल्लेख उन्होंने महाबंध भाग 2 की प्रस्तावना में किया है। हमने भी सम्पादन की इसी प्रक्रिया को यथावत् स्वीकार किया है।

महाबन्ध की ताम्रपत्र प्रति का प्रकाशन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था की ओर से हुआ था। पं. जी को उसमें अनेक त्रुटियां दिखाई दीं। पं. नागराजजी शास्त्री के सहयोग से उन्हें कुछ पाठान्तर मिले जिन्हें उन्होंने अपनी सम्पादन प्रक्रिया में सम्मिलित कर लिया। इस तरह पं. जी ने अपनी प्रति को आदर्श प्रति मानकर उसका संकेताक्षर 'आ' दिया और ताम्रपत्र प्रति को 'ता' से संकेतित किया। वही क्रम हमने भी यहां रखा है।

पं. जी ने इस संदर्भ में यह भी सूचित किया है कि मूडबिद्री की कन्नड प्रति के अनुभागबन्ध का प्रारम्भिक भाग त्रुटित मिला जिसकी पूर्ति उन्होंने प्रकृति अनुभाग बन्ध के प्रारम्भिक स्थल के आधार पर की है। इस जोडे हुए अंश को रू, ब्रेकिट में दिया गया है। समग्र ग्रन्थ में किसी वाक्य या शब्द की पूर्ति बिन्दु रखकर की गई है। इस तरह पं. जी की समग्र सम्पादन प्रक्रिया को हमने साभार स्वीकार किया है।

प्रशस्ति

महाबन्ध के प्रकृतिबन्धाधिकार के अन्त में कोई प्रशस्ति नहीं है। पर स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, तथा प्रदेशबन्ध, इन तीन अधिकारों के बाद अन्त में एक प्रशस्ति उपलब्ध होती है। यह प्रशस्ति मल्लिकादेवी ने लिखाई थी जिन्होंने अपने पंचमीव्रत के उद्यापन में मुनिराज माघनन्दि को इस महाबन्ध ग्रन्थ की प्रतिलिपि समर्पित की थी। यह प्रशस्ति इस प्रकार है।

स्थितिबन्धाधिकार के अन्त की प्रशस्ति

नमस्सिद्धेभ्यः नमो वीतरागाय शान्तये
यो दुर्जयस्मरमदोत्कटकुम्भिकुम्भसंचोदनोत्सुकतरोग्रमृगाधिराजः।
शल्यत्रयादपगतस्त्रयगौरवारिः संजातवान्स भुवने गुणचन्द्रसूरिः।।1।।
दुर्वारमारमदसिन्धुरसिन्धुरारिः शल्यत्रयाधिकरिपुस्त्रयगुप्तियुक्तः।
सिद्धान्तवार्धिपरिवर्धन–शीतरश्मिः श्रीमाघनन्दिमुनिपोऽजनि भूतलेऽस्मिन्।।2।।
स्रग्धरावृत्तम् (कन्नड़)

वरसम्यक्त्वद–देशसंयमद–सम्यग्बोधदत्यन्तभासुरहारत्रिकसौख्यहेतु–वेनिसिर्दा–दानदौदार्यदेल्तरदिं गी (दी) तने जन्मभूमि येनुतं सानंददिंक्कर्तुभूभरमेल्लं पोगकुत्तमिर्पुदभिमानाधीननं सेननम्।।3।। सुजनते सत्यमोलपुदयेशील–गुणोन्नति पेंपु जैन–मार्गज गुणमेंब सद्गुणमिवत्यधकं तनगोप्पनूतनधर्मजनिवनेंदुं कित्ते सुमतीधरे मेदिनि गोप्पे तोर्ब्बेचित्तजसमरूपनं नेगल्नद 'सेनन' नुद्धगुणप्रधानम्।।5।।

कन्नड़ कन्दपद्य

अनुपमगुणगणदतिवर्मन शीलनिदानमेसेव जिनपदसत्को–
कनद–शिलीमुखियेने मांतनदिदं 'मल्लिकब्बे ललनारत्नम्'।।6।।
आवनिता रत्नदो, पेंपावंगं पोगललरिदु जिनपूजये नान।
विधद–दानदमलिन–भावदोला 'मल्लिकब्बेयं' पोल्ववरार
श्री पंचमियं नोंतुद्यापनमं माडि बरेसि रांद्धांतगना (राद्धांतमना)।
रूपवती 'सेनवधू' जितकोपं श्रीमाघनंदियतिपति–गित्तल्।।7।।

अनुभागबन्धाधिकार के अन्त की प्रशस्ति

स्रग्धरावृत्तम्

जितचेतो जातनुर्वीश्वर–मुकुटतटोद्घृष्टपादारविन्द–द्वितयं वाक्कामिनी–पीवरकुचकलशालंकृतोदारहार– प्रतिमं दुर्द्धौरसंसृत्यतुल–विपिनदावानलं माघनन्दि–व्रतिनाथं शारदाभ्रोज्ज्वलविशदयशोराजिता शान्तकान्तम्।।1।।

कन्दपद्य

भावभवविजयि–वरवाग्देवीमुखनूत्नरत्नदर्पनान–म्नावनि–पालकनेनिसिद–नला विश्रुतकित्ते माघनंदिमुनीन्द्रम्।।2।।

महास्रग्धरावृत्तम्

वृरराद्धान्तांमृताम्भोनिधि–तरल–तरंगोत्कर–क्षालितान्त :–
करणं श्रीमेघचन्द्रव्रतिपतिपदपंकेरुहासक्तसत्स (त्ष) ट्चरणं तीव्र प्रतापोद्धृत–विततबलोपेत–पुष्पेषुभृतसं हरणं सैद्धान्तिकाग्रेसरनेने नेगल्दं माघनन्दिव्रतीन्द्रम्।।3।।

कन्दपद्य

महनीय गुणनिधानं, सहजोन्नतबुद्धिविनयनिधियेन नेगब्दं
महि बिनुतकित्ते कित्तित (मही) महिमानं मानिताभिमानं सेनम्।।4।।
विनयद–शीलदोल गुणदोलादिय पेंपिन पुड्डिजंमनो –
जनरतिरूपि नोल्यनिलिसिर्द–मनोहरमप्पुदोंदु–
रूपिनमने दानदा (सा) गरमेमिप्प बधूत्तमे यप्प संदसे–
नन सति मल्लिकब्बेगे धरित्रियोलार्दोरे सद्गुणंगलिं।।5।।

सकलधरित्रीविनुत–प्रकटितयशे मल्लिकब्बे बरेयिसि सत्पु–ण्याकर महाबन्धद पुस्तकमं श्रीमाघनंदि मुनिपति गित्तल्।।6।।

प्रदेशबन्धाधिकार के अन्त की प्रशस्ति

कन्दपद्य

श्रीमलधारिमुनीन्द्रपदामलसरसीरुहभृंगनमलिकित्ते।
प्रेमं मुनिजन कैरवासोमनेनल्माघनंदियतिपतियेसेदं।।1।।
जितपपंचेषु–प्रतापानलमलतरोत्कृष्टचरित्ररारा–
जिततेतं भारती–भासुर–भासुरकुचकलशालीढ–भाभारनूल्ना।
यत् तारोदारहारं समदमनियमालंकृतं माघनंदि–
व्रतिनाथं शारदाभ्रोज्ज्वलविशदयशो–वल्लरी–चक्रवालम्।।2।।
जिनवक्त्रांभोज–नीनिर्गत–हितनुतराद्धान्तकिंजल्कसुस्वादन–
... ... जपदनत भूपेन्द्रकोटीरसेना।
तिनिकायभ्राजितांघ्रिद्वयनखिल–जगद्धव्यनीलोत्पलाल्हादन–
ताराधीशनें केवलमें भुवनदोल् माघनंदिव्रतीन्द्रम्।।3।।
वरराद्धान्तरामृतांभोनिधितरलतरंगोत्करक्षालितांतः–
करणं श्रीमेघचंद्रव्रतपतिपपंकेरुहासक्तषट्चरणं।।
... ... त्स।
च्चारणं सैद्धान्तिकाग्रेसरनेने नेगदंमाघनंदिव्रतीन्द्रम्।।4।।
श्री पंचमियं नोंतुद्यापनमं माडि बरेसि राद्धांतमना।
रूपमती सेनवधू जितकोपं श्रीमाघनंदियतिपतिगित्तल्।।5।।

कर्मबन्धमीमांसा

''जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेहिऊण कावडियं।
एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकावडियं ।।'' – गो. जी., गा. 201

मंगलाचरण

जहां तक मंगलाचरणका प्रश्न है वह षट्खण्डागम के जीवस्थान और वेदनाखण्ड में ही मिलता है, अन्यत्र नहीं। पं. सुमेरुचन्द्र जी ने उस मंगलसूत्र को अनिबद्ध माना है पर ऐतिहासिक दृष्टि से उसे हम अनिबद्ध नहीं कह सकते। वे 44 सूत्र वस्तुतः आचार्य पुष्पदन्त द्वारा रचित होना चाहिए। इन्हीं को उन्होंने वर्गणा और महाबन्ध का भी मंगलाचरण मान लिया है। वेदनाखण्ड में समागत मंगलाचरण ही महाबन्ध का मंगलाचरण है। इसे हमने उसके प्रारम्भ में समाहित कर दिया है।

महाबन्ध की रचना आचार्य भूतबलि ने (ध. टीका 1.67) सूत्र में न कर गद्य में की है।

महाबन्ध और उसका विषय परिचय

महाबन्ध का प्रारम्भ प्रकृतिबन्ध से होता है।

यह महाबन्ध षट्खण्डागम का छठा खण्ड है। अग्रायणी पूर्व के 14 अधिकारों में से पांचवें चयन लब्धि नामक अधिकार के चतुर्थ कर्मप्रकृतिप्राभृत (कस्मपयडि) के 24 अधिकार (अनुयोगद्वार) हैं –

1. कृति, 2. वेदना, 3. स्पर्श, 4. कर्म, 5. प्रकृति, 6. बन्धन, 7. निबन्धन, 8. प्रक्रम, 9. उपक्रम, 10. उदय, 11. मोक्ष, 12. संक्रम, 13. लेश्या, 14. लेश्याकर्म, 15. लेश्यापरिणाम, 16. सातासात, 17. दीर्घह्रस्व, 18. भवधारणीय, 19. पुद्गलत्व, 20. निधत्त–अनिधत्त, 221. निकाचित–अनिकाचित, 22. कर्मस्थिति, 23. पश्चिमस्कन्ध, 24. अल्पबहुत्व।

इन चौबीस अनुयोगद्वारों से षट्खण्डागम के चार खण्डों का निर्माण किया गया – वेदना, वर्गणा, खुद्दाबन्ध और महाबन्ध। इनमें से बन्ध और बन्धनीय अधिकारो ंकी प्ररूपणा वर्गणा खण्ड में और बन्धक अधिकार की प्ररूपणा खुद्दकबन्ध में की गई है। बन्धक अनुयोगद्धार के अन्यतम भेद बन्ध विधान से जीवट्ठाण का बहुभाग और बन्ध सामित्त विचय निकले। इसी तरह ज्ञानप्रवाद नामक पंचमपूर्व के दशम वस्तु के अन्तर्गत तीसरे 'पेज्जदोसपाहुड' से कसायपाहुड' की रचना हुई। इन दोनों ग्रन्थों का सीधा सम्बन्ध द्वादशांगवाणी से स्थापित होता है। महाबन्ध को छोडकर षट्खण्डागम के प्रथम पांच खण्डों पर आचार्य वीरसेन की टीका उपलब्ध है पर महाबन्ध पर कोई टीका नहीं मिलती।

इन अधिकारों मे ंसे महाबन्ध का सम्बन्ध बन्धन नामक अनुयोगद्वार से है। यह बन्धन अनुयोगद्वार चार अवान्तर अनुयोगद्वारों में विभक्त है – बन्ध, बन्धनीय, बन्धक और बन्धविधान। षट्खण्डागम का विषय यहां कृत, वेदना, स्पर्श, कर्म और प्रकृति इन पांच अनुयोगद्वारों में समाप्त हो जाता है। शेष 18 अनुयोगद्वारों की चर्चा आचार्य वीरसेन ने अपनी धवलाटीका (पृ. 15–16) में संक्षेप में कर दी है। इसका नाम सत्कर्म (संतकम्मपंजिका) है।

बन्धन नामक अनुयोगद्वार की प्ररूपणा इन चार अनुयोगद्वारों के माध्यम से की गई है – 1. प्रकृतिबन्ध, 2. स्थितिबन्ध, 3. अनुभाग बन्ध और 4. प्रदेशबन्ध। बन्धक खुद्दाबंध नामक द्वितीय खण्ड में इनका वर्णन संक्षेप में कया गया है। यहां महाबन्ध में उसी को विस्तार से समझाया गया है। खुद्दाबंध में 1579 सूत्र हैं जबकि महाबन्ध का ग्रन्थ–प्रमाण लगभग 40000 श्लोक है। इसीलिए उसे महाबन्ध कहा गया है। बाद में यही महाबंध महाधवल के नाम से भी प्रख्यात हुआ है। इसके अध्ययन से व्यक्ति की आत्मा महाधवल हो जाती है। इसलिए इसे महाधवल कहा गया है। विशद विवेचन के कारण भी महाधवल शब्द का प्रयोग हुआ होगा। प्राकृत पाठों का आहरण होता रहा। इसलिए प्राचीन और अर्वाचीन पाठों का मिश्रण इन प्रतियों में दिखाई देता है। कहा जाता है, तुम्बलूर नामक आचार्य ने महाबन्ध पर सात हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी थी पर यह टीका आज उपलब्ध नहीं है।

आचार्य भूतबलि चतुर्थ वेदनाखण्ड के प्रारम्भ में 44 सूत्रों के द्वारा जो मंगलाचरण किया है उसे टीकाकार वीरसेन ने शेष तीनों खण्डों का अर्थात् वेदना, वर्गणा और महाबन्ध का मंगल माना है। उसे हमने महाबन्ध के प्रारम्भ में पुनः दे दिया है।

इस महाबन्ध की मात्र एक प्रति ही उपलब्ध हुई है जा मूडबिद्री के सिद्धान्तवसदि भण्डार में सुरक्षित है। उसके भी प्रारम्भ के 14 पत्र नष्ट हो चुके हैं इसलिए आचार्य भूतबलि ने उसका प्रारम्भ किस तरह किया होगा अज्ञात है। उपलब्ध भाग अवधिज्ञान का निरूपण करने वाली गाथाओं से प्रारम्भ होता है। अर्थात् उसका प्रारम्भ प्रकृति अनुयोगद्वार से होता है जिसे महाबन्ध में 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन निरूपण' कहा है। इसमें अवधि ज्ञानावरण के पूर्व मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण का वर्णन रहा होगा।

वर्गणाखण्ड के विषय को यहां संक्षिप्त कर दिया गया है। बन्धस्वामित्व विचय के स्वरूप का भी संक्षिप्त विवेचन ही है। आगे का ताडपत्र त्रुटित होने से बन्धस्वामित्व का आदेशकथन अधूरा ही रह गया

है। आगे कालप्ररूपणा भाग का भी आरम्भिक भाग उपलब्ध नहीं है।

विषय परिचय

पं. सुमेरुचन्द्रजी एवं पं. फूलचन्द्रजी ने प्रारम्भिक रूप में महाबन्ध का सम्पादन किया है और उसका विषय परिचय भी विशद रूप से प्रस्तुत किया है। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं –

1. प्रकृतिबन्धाधिकार

प्रकृतिबन्ध (पयडिबंधाहियारो) में कर्मप्रकृतियों के स्वरूप का निरूपण किया गया है जिसे प्रकृतिसमुत्कीर्तन कहा जाता है। इसमें जीवस्थान खण्ड की प्रथम प्रकृति समुत्कीर्तन नामक चूलिका में ज्ञानावरणीय कर्म की पांच उत्तरप्रकृतियों का पंचम वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत प्रकृति अनुयोगद्वार में ज्ञानभेदों और उत्तर प्रकृतियों की अवान्तर प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है। महाबन्ध के इस प्रथम अधिकार में इन दोनों के विषयों को विस्तार से ग्रहण किया गया है। गाथा सूत्रों (3.17) का भी उपयोग उसी रूप में हुआ है।

जीव और कर्म दो स्वतन्त्र द्रव्य है। एक अमूर्तिक है और दूसरा मूर्तिक है। अनादि काल से इन दोनों के बीच द्रव्यात्मक और भावात्मक सम्बन्ध है। प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। जीव या आत्मा का स्वभाव ज्ञान–दर्शन है। कर्म का स्वभाव उस ज्ञानादि स्वभाव को आच्छादित करता है। कर्म के आठ प्रकार हैं और उनके अपने–अपने स्वभाव हैं। जैसे घटादिक पदार्थ की प्रकृति मिट्टी है, पुद्गल की प्रकृति पूरन–गलन है वैसे ज्ञानावरणादि कर्मों की भी प्रकृति ज्ञान–दर्शनादि का आवरण करना है। ज्ञानावरण की पांच प्रकृतियां हैं – मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण। मिथ्यात्व आदि के उदय होने के कारण इन कर्मों का बन्ध होता है। प्रथम तीन ज्ञान कुज्ञान भी होते हैं। कर्म की द्रव्यार्थिकनय मूलप्रकृति है और पयायार्थिकनय रूप निमित्तक प्रकृति को उत्तरप्रकृति कहा जाता है। प्रकृतियों के स्वरूप का निरूपण प्रकृति समुत्कीर्तन कहलाता है।

ज्ञानावरण कर्म की 5 प्रकतियां हैं – अभिनिबोधिका श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्याय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। अभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान) पांच इन्द्रियों और मन के निमित्त से मात्र अवग्रह रूप होता है। वह दो प्रकार का है – अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। अर्थावग्रह व्यक्त वस्तु को ग्रहण करता है जो इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है। ईहा, अवाय, धारणा भी पंचेन्द्रियों और मन से होने के कारण छह–छह भेद वाला है। इन चौबीस भेदों में व्यंजनावग्रह के चार भेद मिलाने पर अभिनिबोधिक ज्ञानावरण कर्म के 28 भेद हो जाते हैं। इसके बहु–बहुविध आदि बारह बारह प्रकार के भेद होने से उसके 28 ग 12 = 336 भेद हो जाते हैं।

श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक मन के अलम्बन से होता है। छद्मस्थों में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान नियमतः होते हैं। श्रुतज्ञान अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा द्रव्य–भाव के भेद से दो प्रकार का होता है। आचारांगादि आगमों को द्रव्यश्रुत कहा जाता है जो अक्षरात्मक है। उनका अध्ययन करने से जो स्वसंवेदनात्मक ज्ञान होता है वह अवश्रुत है। उसी को दर्शन भी कहा गया है।

अवधिज्ञान एक सीमित ज्ञान है। वह प्रत्यक्ष रूप से जीवों की विविध पर्यायों को जानता है। उसके मुख्यतः दो भेद हैं – भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। देशावधि आदि भेद से यह ज्ञान अनेक प्रकार का है। इन ज्ञानों पर आवरण डालने वाला ज्ञान अवधिज्ञानावरण है। इसकी असंख्यात कर्म प्रकृतियां होती हैं।

मनःपर्ययज्ञान दूसरे के मन की बात को जानता है। वह ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का होता है। ऋजुमति में इन्द्रियों और मन की अपेक्षा होती है और विपुलमति में उनकी अपेक्षा

नहीं होती। यह केवलज्ञान ज्ञानावरण के क्षय से उत्पन्न होता है।

कर्म की सामान्य प्रकृतियां 148 हैं। ओघ से 5 ज्ञानावरण तथा 5 अन्तराय की प्रकृतियों का सर्वबन्ध होता है। आयुकर्म को छोडकर शेष सातों कर्मों का निरन्तर बन्ध होता है। शुभाशुभ कर्मों का फल प्रकृति, स्थिति आदि के अनुसार विभक्त होता है। धर्मध्यान असंयत सम्यग्दृष्टि के होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व में मिथ्यात्व गुणस्थान सम्बन्धी 16 और सासादन गुण सम्बन्धी 25 प्रकृतियों का अभाव होने से बन्ध योग्य 27 प्रकृतियां होती हैं। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में भी इतनी ही प्रकृतियों का बन्ध होता है। दर्शनावरण, मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी, तिर्यंचगति त्रिक का जघन्य बन्धकाल अन्तर्मुहूर्त है। अनन्ता–नुबन्धी का सासादन पर्यन्त बन्ध होता है पर मिथ्यात्व का प्रथम गुणस्थान पर्यन्त ही बन्ध होता है।

इस प्रकृतिबन्ध की प्ररूपणा 24 अनुयोगद्वारो ंके माध्यम से की गई है जो इस प्रकार है –

1. प्रकृति समुत्कीर्तन – इस अनुयोगद्वार में कर्म की मूल और उत्तरप्रकृतियों की प्ररूपणा है।

2–3. सर्वबन्ध – नोसर्वबन्ध – सर्वबन्ध का तात्पर्य है कर्म की अधिकाधिक प्रकृतियों का एक साथ बन्ध होना। जैसे ज्ञानावरण की 5 प्रकृतियां और अन्तराय कर्म की 5 प्रकृतियाँ अपनी बन्ध व्युच्छित्ति होने तक सूक्ष्मसांपराय संयत गुणस्थान तक एक साथ बंधती हैं। यही सर्वबन्ध है। पर जब उनमें एक समय में एक प्रकृति का ही बन्ध होता है तो वह नोकसर्वबन्ध कहलाता है। जैसे दर्शनावरण की 9 प्रकृतियां दूसरे गुणस्थान तक एक साथ बंधती हैं यह सर्वबन्ध है। पर दूसरे गुणस्थान में निद्रा–निद्रा, प्रचला–प्रचला और स्त्यानमृद्ध इन तीन की बन्धव्युच्छित्ति हो जाने पर अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग तक छह प्रकृतियों का बन्ध होता है इसलिए उसका यह नो–सर्वबन्ध है। इसी तरह प्रथम भाग में निद्रा और प्रचला इन दोनों के व्युच्छिन्न हो जाने से सूक्ष्मसांपराय तक उसकी चार प्रकृतियां बंधती हैं यह भी उसका नोसर्वबन्ध है। इस प्रकार दर्शनावरण का सर्वबन्ध भी होता है और नोसर्वबन्ध भी होता है। वेदनीय, आयु और गोत्र ये तीन बन्ध एक समय में संभव हैं। मोहनीय और नामकर्म का सर्वबन्ध और नोसर्वबन्ध दोनों होते है।

4–7. उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध और अजघन्यबन्ध ये प्रकृतिबन्ध में सम्भव नहीं हैं।

8–9. सादि–अनादिबन्ध–किसी कर्मप्रकृति के बन्ध का अभाव हो जाने पर पुनः उसका बन्ध होना सादिबन्ध कहा जाता है। जैसे कि ज्ञानावरण की 5 प्रकृतियों का बन्ध सूक्ष्मसाम्पराय तक होता है। जो जीव इस गुणस्थान में बन्ध–व्युच्छित्ति करके उपशान्तकषाय हुआ है, उसके वहां उनके बन्ध का अभाव हो गया। परन्तु जब उपशान्तकषाय से गिरकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में आता है, तब उन प्रकृतियां का पुनः बन्ध होने लगता है। इसे सादिबन्ध कहते हैं।

जब तक जीव श्रेणिपर आरोहण नहीं करता, तब तक उसके अनादिबन्ध होता रहता है। सूख्मसाम्पराय गुणस्थान तक अनादिबन्ध कहा गया है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के सम्बन्ध में भी सादि–अनादि बन्ध का विचार किया गया है।

10–11. ध्रुव–अध्रुवबन्ध–अभव्य जीव के जो बन्ध होता है वह ध्रुवबन्ध है, क्योंकि उसके अनादिकाल से होने वाले उस कर्मबन्ध का कभी अभाव होने वाला नहीं है। किन्तु भव्य जीवों का कर्मबन्ध अध्रुवबन्ध है, क्योंकि उनके कर्मबन्ध का अभाव हो सकता है।

12. बन्ध–स्वामित्वविचय– इस प्रकरण का ओघ तथा आदेश से दो प्रकार का निर्देश किया गया है। ओघ की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोगकेवली पर्यन्त चौदह जीव–समास–गुणस्थान होते हैं। इनमें प्रकृतिबन्ध की व्युच्छित्ति कही गई है। बन्ध–व्युच्छित्ति प्राप्त प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं –

मिथ्यात्व में 16, सासादन में 25, अविरत में 10, देशविरत में 4, प्रमत्तसंयत में 6, अप्रमत्तसंयत में 1, अपूर्वकरण में 36, अनिवृत्तिकरण में 5, सूक्ष्मसाम्पराय में 16, सयोगकेवली में 1 – इस प्रकार इन 10 गुणस्थानों के जीव बन्धक हैं, शेष अबन्धक हैं।

इसके अतिरिक्त बारह अनुयोगद्वारों का भी उल्लेख किया गया है। उन अनुयोगद्वारों के नाम इस प्रकार हैं –

13. एक जीव की अपेक्षा काल–प्ररूपणा
14. एक जीव की अपेक्षा अन्तरानुगम प्ररूपणा,
15. सन्निकर्ष – प्ररूपणा,
16. भंगविचय–प्ररूपणा,
17. भागाभागानुगम–प्ररूपणा,
18. परिमाणानुगम–प्ररूपणा,
19. क्षेत्रानुगम–प्ररूपणा,
20. स्पर्शनानुगम–प्ररूपणा,
21. अनेक जीवों की अपेक्षा कालानुगम प्ररूपणा,
22. नाना जीवों की अपेक्षा अन्तरानुगम प्ररूपणा,
23. भावानुगम–प्ररूपणा,
24. अल्पबहुत्वानुगम–प्ररूपणा

2. स्थितिबन्धाधिकार

कर्मबन्ध होने के बाद जितने समय तक कर्म जीव के साथ संबद्ध रहते हैं उसका नाम स्थितिबन्ध है। इसे पूर्वोक्त 24 अनुयोगद्वारों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। इतना अवश्य है कि यहां प्रकृति समुत्कीर्तन के स्थान पर 'अद्धाच्छेद' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां स्थितिबन्ध भी दो प्रकार का है – मूल प्रकृति स्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृति स्थितिबन्ध मूलप्रकृति स्थितिबन्ध को चार प्ररूपणाओं के माध्यम से स्पष्ट किया गया है – स्थितिबन्धस्थान प्ररूपणा, निषेक प्ररूपणा, आबाधाकाण्डक प्ररूपणा और अल्पबहुत्व। इनका संक्षिप्त वर्णन वेदनाखण्ड में वेदना अनुयोगद्वार की प्रथम चूलिका में किया गया है।

1. स्थितिबन्ध स्थान प्ररूपणा – कुल संसारी जीवराशि चौदह जीवसमासों में विभक्त है। इनमें से एक–एक जीवसमास में अलग–अलग कितने स्थिति–विकल्प होते हैं; स्थितिबन्ध के कारणभूत संक्लेशस्थान और विशुद्धिस्थान कितने हैं और सबसे जघन्य स्थितिबन्ध से लेकर उत्तरोत्तर कितना–कितना अधिक स्थितिबन्ध होता है; इन तीन का उत्तर अल्पबहुत्व की प्रक्रिया द्वारा स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा नामक पहले अनुयोगद्वार में दिया गया है।

2. निषेक प्ररूपणा – निषेक का अर्थ है कर्म परमाणुओं का निक्षेपण। इसे दो अनुयोगद्वारों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है– अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तर का अर्थ व्यवधानरहित और उपनिधा का अर्थ प्ररूपणा है। जिस प्रकरण में अव्यवधान रूप से वस्तु का विचार किया जाता है वह अनन्तरोपनिधा अनुयोगद्वार है। यहां यह स्पष्ट किया गया है कि प्रतिसमय जो कर्म बंधते हैं वे अपनी स्थिति के अनुसार किस क्रम से निक्षिप्त होते हैं। आयुकर्म की आबाधा स्थितिबन्ध में सम्मिलित नहीं है इसलिए कर्म द्रव्य का विभाग आयुकर्म के स्थितिबन्ध के सब समयों में होता है। परम्परोपनिधा में यह विचार कया गया है कि प्रथम निषेक के द्रव्य से कितने स्थान जाने पर वह उत्तरोत्तर आधा–आधा रहता जाता है।

3. आबाधा काण्डक प्ररूपणा – यहां कितनी स्थिति की कितनी आबाधा होती है, इसका विचार किया गया है। एक आबाधा–काण्डक यहां पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाया है।

4. अल्पबहुत्व प्ररूपणा – यहां पूर्वोक्त तीन प्ररूपणाओं में जिन विषयों की चर्चा की गई है उनमें कौन–कितना अल्प है और कितना बहुत है, इसे तुलनात्मक ढंग से स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकरण को भी 24 अनुयोगद्वारों के माध्यम से विवेचित किया गया है –

1. अद्वाच्छेद प्ररूपणा – अद्धा का अर्थ है काल। इसमें यह प्ररूपणा की गई है कि कर्म का उत्कृष्ट और जघन्य बन्ध कितना होता है, उसका आबाधाकाल कितना है तथा निषेक रचना किस प्रकार होती है। ओघ और आदेश के माध्यम से इसे स्पष्ट किया गया है।

2–3. सर्वबन्ध–नोसर्वबन्ध – विवक्षित कर्मप्रकृति की जितनी उत्कृष्ट स्थिति नियमित है उसके बन्ध को सर्वबन्ध और उससे कम के बन्ध को नोसर्वबन्ध कहा जाता है। इन दोनों की प्ररूपणा विभिन्न कर्म प्रकृतियों के आश्रय से यहां की गई है।

इसी प्रकार उत्कृष्ट–अनुत्कृष्ट बन्ध प्ररूपणा, जघन्य–अजघन्यबन्ध प्ररूपणा आदि अनुयोगद्वारों के माध्यम से भी विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद भुजगार बन्ध, पदनिक्षेप, वृद्धिबन्ध, अध्यवसान समुदाहार, जीवसमुदाहार इन प्रकरणों द्वारा भी मूल–प्रकृति स्थितिबन्ध का विचार किया गया है। भुजगारबन्ध के 13 अनुयोगद्वार, पदनिक्षेप के 3 अनुयोगद्वार, वृद्धिबन्ध के 13 अनुयोगद्वार और अध्यवसान समुदाहारक के 3 अनुयोगद्वार हैं। जीवसमुदाहार का पृथक् कोई अनुयोगद्वार नहीं है।

आगे उत्तर प्रकृतिस्थितिबन्ध का विचार भी इसी प्रक्रिया से किया गया है। मूलप्रकृति स्थितिबन्ध में आठमूल प्रकृतियों के आश्रय से और उत्तर प्रकृति स्थितिबन्ध में 120 उत्तर प्रकृतियों के आश्रय से विचार किया गया है। इसमें दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की 28 प्रकृतियां कम हो जाती हैं। स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का कारण कषाय होता है। कषाय के विविध भेदों को कषायाध्यवसान कहा जाता है। ये कषायाध्यवसान स्थान दो प्रकार के होते हैं – संक्लेश रूप और विशुद्धिरूप। आगे निषेक, आबाधाकाण्डक तथा अल्पबहुत्व प्ररूपणा का कथन किया गया है। इसके बाद 2 अनुयोगद्वारों के माध्यम से उसे पुनः स्पष्ट किया गया है।

3. अनुभागबन्ध

अनुभाग का तात्पर्य है कर्मों की विपाकशक्ति जो शुभाशुभ कर्मों के अनुसार अभिव्यक्त होती है। यह शक्ति प्रत्येक कर्म में उसकी प्रकृति के अनुसार विद्यमान रहती है जो योग–निमित्त से हीनाधिक होती रहती है। इन योग निमित्त बन्ध कारणों में कषाय का स्थान सर्वोपरि है। कर्मों की प्रकृति सामान्य है और अनुभाग विशेष है। शुभ–अशुभ कर्मों का फल अनुभागबंध से ही मिलता है।

जीव और कर्म दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं। जीव में स्पर्श गुण नहीं हैं जो दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक आवश्यक तत्त्व है। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है। कर्म के निमित्त से जीव में योग और कषाय रूप परिणमन होता है जो स्पर्शगुण का काम करता है। इसीसे जीव का कर्म और नोकर्म के साथ बन्ध होता है – रत्तो बंधदि कम्मं मुंचादि कम्मं विरागसंपत्तो। पर जीव का यह योग और कषाय रूप परिणमन नैमित्तिक होता है, स्वाभाविक नहीं। इसलिए कषाय रूप निमित्त के रहने तक ही उसका बन्ध होता रहता है, बाद में समाप्त हो जाता है। इस बन्ध को दो भागों में विभक्त किया जाता है – स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। स्थितिबन्ध में कर्म का सम्बन्ध जीव के साथ कितने काल तक रहता है, इस पर विचार किया जाता है। और अनुभागबन्ध उस स्थिति का वर्णन करता है

जब कर्म आत्मा से अलग होने लगते हैं और हलन–चलन करते हैं। इस हलन–चलन को उदीरणा कहा जाता है। आचार्य उमास्वामी ने इसी को ''विपाकोऽनुभवः'' कहकर व्याख्यायित किया है।

यह अनुभाग बन्ध की अपेक्षा दो प्रकार का है – मूल प्रकृति अनुभागबन्ध और उत्तरप्रकृति अनुभागबन्ध। मूल प्रकृति अनुभागबन्ध में आठों मूलप्रकृतियों को प्राप्त होने वाले अनुभाग पर विचार किया जाता है और बन्ध के समय उत्तर प्रकृतियों को होने वाले अनुभाग पर उत्तरप्रकृति अनुभागबन्ध में विचार किया जाता है। इस तृतीय अनुभागबन्ध अधिकार में इसी अनुभाग पर विविध अधिकारों के माध्यम से विचार किया गया है। इन अधिकारों में विशेष रूप से प्रथमतः दो अधिकार हैं –

निषेक प्ररूपणा और स्पर्धक प्ररूपणा

निषेक का तात्पर्य है स्थिति की अपेक्षा प्रत्येक समय में प्राप्त होने वाला कर्मपुंज जो विभाजित होता रहता है, मात्र आबाधाकाल में निषेक रचना नहीं होती। जघन्य अनुभाग शक्त्यंश को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। ऐसे अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद एक वर्ग में पाये जाते हैं। उन वर्गों से मिलकर एक वर्गणा बनती है और ऐसी अनन्तानन्त वर्गणाएं मिलकर एक स्पर्धक होता है। अर्थात् कर्मवृद्धि रूप अनुभाग शक्ति से संपन्न अन्तर रहित वर्गणाएं जहां तक पाई जाती हैं उसे स्पर्धक कहा जाता है। ये स्पर्धक देशघाति और सर्वघाती दो प्रकार के होते हैं। देशघाति, स्पर्धक आठों कर्मों के होते हैं और सर्वघाति स्पर्धक केवल चार घाति कर्मों के होते हैं।

अनुभागबन्ध का विचार संज्ञादि चौबीस अनुयोगद्वारों द्वारा किया जाता है –

संज्ञा–संज्ञा के दो भेद हैं, घातिसंज्ञा और स्थानसंज्ञा। आठ कर्मों में से चार कर्म घाती हैं और चार अघाती हैं। घातिकर्म के भी दो भेद हैं, सर्वघाती और देशघाती। जो जीव के ज्ञानादि गुणों को पूरी तरह से घातते हैं उन्हे सर्वघाती कर्म कहते हैं और जो एकदेशघात करते हैं उन्हें देशघाती कहते हैं। चार धातिकर्मों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाती होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाती और देशघाती होता है। जघन्य अनुभागबन्ध देशघाती होता है तथा अजघन्य अनुभागबन्ध देशघाती और सर्वघाती होता है। शेष चार कर्मों का उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्ध घाती से सम्बद्ध अघाती होता है। घातिसंज्ञा में यह कथन किया गया है।

घातिकर्मों में लता, दारु, अस्थि और शैल की उपमा को लिये हुए चार प्रकार का अनुभाग माना गया है। जिसे चतुःस्थानिक अनुभाग कहते हैं। जिसमें शैल के बिना शेष तीन प्रकार का अनुभाग होता है उसे त्रिस्थानिक अनुभाग कहते हैं। जिसमें लता और दारुरूप अनुभाग होता है उसे द्विस्थानिक अनुभाग कहते हैं। और जिसमें लता और दारुरूप अनुभाग होता है उसे द्विस्थानिक अनुभाग कहते हैं। और जिसमें केवल लता रूप अनुभाग होता है उसे एकस्थानिक अनुभाग कहते हैं। चारों घातिकर्मों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक होता है। जघन्यअनुभागबन्ध एकस्थानिक होता है, और अजघन्य अनुभागबन्ध एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक होता है।

अघातिकर्म दो प्रकार के होते हैं – प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त कर्मों के अनुभाग की उपमा गुड़, खाण्ड, शक्कर और अमृत से दी जाती है। और अप्रशस्त कर्मों के अनुभाग की उपमा नीम, कांजीर, विष और हालाहल से दी जाती है। इसमें भी पूर्ववत् चतुःस्थानिक आदि पर विचार किया गया है

घातिसंज्ञा के अन्तर्गत।

सर्व–नोसर्वबन्ध – सब अनुभागों के बन्ध को सर्वबन्ध और उससे कम अनुभाग बन्धको नो सर्वबन्ध कहते हैं।

उत्कृष्ट अनुत्कृष्टबन्ध – सबसे उत्कृष्ट अनुभागबन्ध को उत्कृष्ट अनुभागबन्ध और उससे कम अनुभागबन्ध को अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध कहते हैं।

जघन्य–अजघन्य अनुभागबन्ध – सबसे कम अनुभागबन्ध को जघन्य अनुभागबन्ध कहते हैं। और उससे अधिक अनुभागबन्ध को अजघन्य अनुभागबन्ध कहते हैं।

सादि–अनादि ध्रुवाध्रुवबन्ध – किसी कर्म का बन्ध न होकर पुनः बन्ध होवे तो उसे सादि बन्ध कहते हैं। जो जीव अनादि काल से पहले ही गुणस्थान में वर्तमान है उसका बन्ध अनादिबन्ध है। अभव्य का बन्ध ध्रुव है और भव्य का कर्मबन्ध अध्रुव है। ऊपर जो उत्कृष्ट आदि चार प्रकार का बन्ध कहा है वह सादि है अथवा अनादि, इसका कथन इन अनुयोगद्वारों में किया गया है।

स्वामित्व – इसका कथन तीन अनुयोगद्वारों की अपेक्षा किया गया है वे तीन अनुयोगद्वार हैं – प्रत्ययानुगम, विपाकदेश और प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणा। प्रत्यय कहते हैं कारण को कर्मबन्ध के चार प्रत्यय हैं– मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग। इन चारों में से किसके निमित्त से किस कर्म का बन्ध होता है इसका विस्तार प्रत्ययानुगम में किया गया है।

कर्म के अनुभाग का विपाक जीव में, पुद्गल में, क्षेत्र में या भव में होता है। तदनुसार कर्मों के चार भेद किये गये हैं – जीवविपाकी, भवविपाकी, पुद्गलविपाकी और क्षेत्रविपाकी।

प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणा में कहा है कि चार घातिकर्म अप्रशस्त हैं और अघातिकर्म प्रशस्त भी हैं अप्रशस्त भी। इन तीन अनुयोगद्वारों का कथन करने के बाद उसके आधार से स्वामित्व का कथन विस्तार से किया गया है।

भुजगारबन्ध – भुजगार से यहाँ भुजगार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बन्ध लिये गये हैं। वर्तमान समय में पिछले समय से अधिक भागबन्ध होना भुजगार बन्ध है। और कम अनुभागबन्ध होना अल्पतरबन्ध है। तथा पिछले समय में जितना अनुभागबन्ध हुआ हो, वर्तमान में भी उतना ही अनुभागबन्ध होना अवस्थितबन्ध है। तथा पिछले समय में बन्ध न होकर वर्तमान में बन्ध होने को अवक्तव्यबन्ध कहते हैं। इन चारों प्रकार के बन्धों की अपेक्षा अनुभागबन्ध का विचार इस अनुयोगद्वार में किया गया है। इसमें तेरह अवान्तर अधिकार हैं – समुत्कीर्तना, स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, भागाभाग, परिणाम, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व।

पदनिक्षेप – इस अनुयोगद्वार में अनुभागबन्ध सम्बन्धी उत्कृष्ट वृद्धि, उत्कृष्ट हानि, उत्कृष्ट अवस्थान, जघन्यवृद्धि, जघन्य हानि और जघन्य अवस्थान का समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन अवान्तर अधिकारों के द्वारा कथन किया गया है।

वृद्धि – वृद्धिबन्ध में छह वृद्धि, छह हानि, अवस्थित और अवक्तव्य पदों का समुत्कीर्तना, स्वामित्व काल, अन्तर, नानाजीवों की अपेक्षा भंग विचयानुगम भागाभाग, परिणाम, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व, इन तेरह अनुयोगों के द्वारा कथन किया गया है।

अध्यवसान समुदाहार – इसमें ये बारह अनुयोगद्वार हैं – अविभाग प्रतिच्छेद, स्थान, अन्तर,

काण्डक, ओजयुग्म, षट्स्थान, अधस्तन स्थान, समय, वृद्धि, यवमध्य पर्यवसान और अल्पबहुत्व प्ररूपणा। चतुर्थ वेदना खण्डके अन्तर्गत वेदनाभाव विधान नामक अनुयोगद्वार की द्वितीय चूलिका का परिचय कराते हुए इन सबका परिचय करा दिया गया है।

जीवसमुदाहार – इसमें आठ अनुयोगद्वार हैं – एक स्थान जीव स्थान प्रमाणानुगम, निरन्तर स्थान–जीव प्रमाणानुगम, सान्तर स्थान जीव प्रमाणानुगम, नानाजीव काल प्रमाणानुगम, वृद्धि प्ररूपणा, यवमध्य प्ररूपणा, स्पर्शन प्ररूपणा और अल्पबहुत्व। उक्त वेदना भाव विधान के परिचय से इनका परिचय भी ज्ञात किया जा सकता है।

इस प्रकार मूलप्रकृति अनुभागबन्ध का कथन करके पश्चात् उत्तर प्रकृति अनुभागबन्ध का कथन उक्त अनुयोगों के द्वारा किया गया है।

4. प्रदेशबन्ध

यह महाबन्ध का अन्तिम भाग प्रदेशबन्ध है। इसमें प्रत्येक समये में बन्ध को प्राप्त होने वाले मूल और उत्तर कर्मों के प्रदेशों के आश्रय से मूल प्रकृतिप्रदेशबन्ध और उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्ध का विचार किया गया है।

भागाभागसमुदाहार – मूल में सर्वप्रथम आठ कर्मों का बन्ध होते समय किस कर्म को कर्मपरमाणुओं का कितना भाग मिलता है, इसका विचार करते हुए बतलाया गया है कि आयुकर्म को सबसे स्तोक भाग मिलता है। उससे नामकर्म और गोत्रकर्म को विशेष अधिक भाग मिलता है। उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को विशेष अधिक भाग मिलता है। उससे मोहनीय कर्म को विशेष अधिक भाग मिलता है। तथा उससे वेदनीय कर्म को विशेष अधिक भाग मिलता है।

उत्तर प्रकृतियों में कर्म परमाणुओं का विभाजन भी यहां बतलाया है कि आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध होते समय जो ज्ञानावरणीय कर्म को एक भाग मिलता है, वह चार भागों में विभक्त होकर आभिनिबोधिकज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण इन चार कर्मों को प्राप्त होता है। यहाँ जो सर्वघाति प्रदेशाग्र है, वह भी इसी क्रम से बँट जाता है। केवलज्ञानावरण सर्वघाति प्रकृति है, इसलिए उसे केवल सर्वघाति द्रव्य ही मिलता है, किन्तु देशघाति प्रकृतियों को दोनों प्रकार का द्रव्य मिलता है। दर्शनावरण में तीन देशघाति और छह सर्वघाति प्रकृतियाँ हैं। इसलिए देशघाति द्रव्य देशघातियों को और सर्वघाति द्रव्य देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकार की प्रकृतियों को मिलता है।

चौबीस अनुयोगद्वार

भागाभागसमुदाहार का कथन करने के बाद चौबीस अनुयोगद्वारों के अर्थ पद के रूप में मूल में दो गाथाएँ आती हैं।

स्थानप्ररूपणा – इस अनुयोगद्वार के दो भेद हैं – योगस्थानप्ररूपणा और प्रदेशबन्धप्ररूपणा। योगस्थानप्ररूपणा में पहले उत्कृष्ट और जघन्य योगस्थानों का चौदह जीवसमासों के आश्रय से अल्पबहुत्व व प्रदेशअल्पबहुत्व का विचार करके दश अनुयोगद्वारों के आश्रय से योगस्थानों का विशेष विचार किया है। वे दश अनुयोगद्वार ये हैं – अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

सर्व–नोसर्वप्रदेशबन्ध – ज्ञानावरणादि कर्मों का प्रदेशबन्ध होने पर वह सर्वबन्धरूप है या नोसर्वबन्धरूप है, इसका विचार इन दोनों अनुयोगद्वारों में किया गया है।

उत्कृष्ट–अनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध – ज्ञानावरणादिका प्रदेशबन्ध होने पर वह उत्कृष्टरूप है या अनुत्कृष्टरूप, इसका विचार इन दो अनुयोगद्वारों में किया गया है। जहाँ मूल और उत्तर प्रकृतियों का ओघ और आदेश से यथासम्भव उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है, वहाँ उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कहलाता है और मूल व उत्तर प्रकृतियों का इससे न्यून प्रदेशबन्ध होता है वह अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कहलाता है।

जघन्य–अजघन्यप्रदेशबन्ध – ज्ञानावरणादि मूल व उत्तर प्रकृतियों का प्रदेशबन्ध होने पर वह जघन्य है या अजघन्य, इसका विचार इन दो अनुयोगद्वारों में किया गया है। बन्ध के समय ओघ और आदेश से यथासम्भव सबसे कम प्रदेशबन्ध होने पर वह जघन्य प्रदेशबन्ध कहलाता है और उससे अधिक प्रदेशबन्ध होने पर वह अजघन्य प्रदेशबन्ध कहलाता है।

सादि–अनादि–ध्रुव–अध्रुवप्रदेशबन्ध – इन चारों अनुयोगद्वारों में जो उत्कृष्ट आदि चार प्रकार का प्रदेशबन्ध बतलाया गया है वह सादिआदि किस रूप है, इस बात का विचार किया गया है।

स्वामित्वप्ररूपणा – इसमें ओघ और आदेश से मूल व उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशबन्ध के स्वामी का निर्देश किया गया है।

कालप्ररूपणा – इस अनुयोगद्वार में ओघ व आदेश से मूल व उत्तर प्रकृतियों के जघन्य और उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध के काल का विचार किया गया है। उदाहरणार्थ ज्ञानावरण का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध दशवें गुणस्थान में होता है और वहाँ उत्कृष्ट योग का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल दो समय है, इसलिए इसका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल दो समय कहा है। तथा इसके अनुत्कष्ट प्रदेशबन्ध के तीन भाग प्राप्त होते हैं – अनादि–अनन्त, अनादि–सान्त और सादि–सान्त। यहाँ ओघादि से ज्ञानावरण के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध के काल का विचार कया। अन्य मूल व उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदशबन्ध के काल का विचार ओघ और आदेश से इसी प्रकार मूल के अनुसार कर लेना चाहिए।

अन्तरप्ररूपणा – इस अनुयोगद्वार में ओघ और आदेश से मूल व उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्टादि के अन्तरकाल का विचार किया गया है। उदाहरणार्थ – ज्ञानावरण का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध एक समय के अन्तर से भी सम्भव है और कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन काल के अन्तर से भी सम्भव है, इसलिए इसके उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध का जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परवर्तनप्रमाण कहा है।

सन्निकर्षप्ररूपणा – सन्निकर्ष के दो भेद हैं – स्वस्थान सन्निकर्ष और परस्थान सन्निकर्ष। स्वस्थान सन्निकर्ष में प्रत्येक कर्म की विवक्षित एक प्रकृति के साथ बन्ध को प्राप्त होनेवाली उसी कर्म की अन्य प्रकृतियों के सन्निकर्ष का विचार किया जाता है और परस्थान सन्निकर्ष में विवक्षित प्रकृति के साथ बन्ध को प्राप्त होनेवाली सब उत्तर प्रकृतियों के सन्निकर्ष का विचार किया जाता है। यहां ओघ और आदेश से सब सन्निकर्ष घटित करके बतलाया गया है।

यहाँ उत्कृष्ट सन्निकर्ष के अन्त में सन्निकर्ष की सिद्धि के कुछ उदाहरण देते हुए मूल प्रकृतिविशेष, पिण्डप्रकृति विशेष और उत्तर प्रकृति विशेष का परिणाम आवलि के असंख्यातवें भागप्रमाण बतलाकर 'पवाइज्जमाण' और 'अपवाइज्जमाण' उपदेश के अनुसार इन तीन विशेषों के अल्पबहुत्व का निर्देश किया है।

भंगविचयप्ररूपणा – उस अनुयोगद्वार में ओघ और आदेश से सब मूल व उत्तर प्रकृतयों के उत्कृष्ट व जघन्य प्रदेशबन्ध के भंगों का नाना जीवों की अपेक्षा विचार किया गया है।

भागाभागप्ररूपणा – मूल प्रकृतियों की अपेक्षा भागाभागप्ररूपणा भी नष्ट हो गई है। उत्तर

प्रकृतियों की अपेक्षा ओघ से भागाभाग का निर्देश करते हुए तीन आयु, वैक्रियिक छह और तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव इनका बन्ध करनेवाले जीवों के असंख्यातवें भागप्रमाण और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव असंख्यात बहुभागप्रमाण बतलाये हैं।

परिणामप्ररूपणा – उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा ओघ से परिमाण का निर्देश करते हुए बतलाया है कि तीन आयु और वैक्रियिक छहका उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव असंख्यात हैं। आहारद्विक का उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव संख्यात हैं। तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव संख्यात हैं और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव असंख्यात हैं। तथा शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव असंख्यात हैं और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीव अनन्त हैं।

क्षेत्रप्ररूपणा – ओघ से उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा निर्देश करते हुए बतलाया है कि तीन आयु, वैक्रियिकषट्क, आहारद्विक और तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीवों का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भागप्रमाण है और शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीवों का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भागप्रमाण है और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीवों का क्षेत्र सर्वलोकप्रमाण है।

स्पर्शनप्ररूपणा – ओघ से उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा निर्देश करते हुए बतलाया है कि पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, सातावेदनीय, चार संज्वलन, पुरुषवेद, मनुष्यगति, चार जाति, औदारिकशरीर आंगोपांग, असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीवों ने लोक के असंख्यातवें भागप्रमाण क्षेत्र का स्पर्शन किया है। तथा इनका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीवों ने सर्व लोक का स्पर्शन किया है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीवों का अपने–अपने स्वामित्व के अनुसार स्पर्शन कहा है। तथा सब मार्गणाओं में भी अपनी–अपनी बन्ध योग्य प्रकृतियों का आश्रय लेकर स्पर्शन कहा है।

नाना जीवों की अपेक्षा काल – यहा मात्र जघन्यकाल प्ररूपणा उपलब्ध होती है। आठों मूलप्रकृतियां का जघन्य प्रदेशबन्ध योग्य सामग्री के सद्भाव में सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीव करते हैं, इसलिए नाना जीवों की अपेक्षा इनके जघन्य और अजघन्य प्रदेशबन्ध का काल सर्वदा पाये जाने से वह सर्वदा कहा है। इसी प्रकार मार्गणाओं में भी अपने–अपने स्वामित्व के अनुसार काल का विचार किया है।

नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर – जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से अन्तर प्ररूपणा भी दो प्रकार की है। ओघ से मूल प्रकृतियों की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तरकाल का कथन करते हुए बतलाया है कि आठों कर्मों के उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध का जघन्य अन्तर एक समय है और उत्कृष्ट अन्तर जगश्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध का अन्तर काल नहीं है। उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा भी यही काल है।

भावप्ररूपणा – सब प्रकृतियों का बन्ध औदयिक भाव से होता है, इसलिए यहाँ सब मूल और उत्तर प्रकृतियों का जघन्य और उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करनेवाले जीवों का औदायिक भाव कहा है।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा – अल्पबहुत्व के दो भेद हैं – स्वस्थान अल्पबहुत्व और परस्थान अल्पबहुत्व। मूल प्रकृतियों में स्वस्थान अल्पबहुत्व सम्भव नहीं है, इसलिए इनका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकार का परस्थान प्रदेश अल्पबहुत्व ही कहा है। उत्तर प्रकृतियों का स्वस्थान और परस्थान दोनों प्रकार का अल्पबहुत्व सम्भव है, क्योंकि यहाँ प्रत्येक कर्म के अलग–अलग अनेक भेद हैं, इसलिए

प्रत्येक कर्म की अवान्तर प्रकृतियां का स्वस्थान अल्पबहुत्व बन जाता है और सब कर्मों की अवान्तर प्रकृतियों को एक पंक्ति में रखने पर उनमें परस्थान अल्पबहुत्व भी बन जाता है।

भुजगार बन्ध

इस प्रकरण में मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध पर विचार किया गया है। दोनों पर विचार करने की पद्धति एक ही है। इसमें भुजगार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्यबन्धों का कथन है। पिछले समय की अपेक्षा वर्तमान में अधिक प्रदेशों का बन्ध करना भुजगार बन्ध है, कम प्रदेशों का बन्ध करना अल्पतरबन्ध है, पिछले समय में जितना प्रदेश बन्ध किया था वर्तमान समय में भी उतना ही प्रदेशबन्ध होना अवस्थितबन्ध है, और बन्ध न करके बन्ध करना अवक्तव्यबन्ध है। इन बन्धों का कथन तेरह अनुयोगों के द्वारा किया गया है – समुत्कीर्तना, स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर भाव और अल्पबहुत्व। ताड़पत्र के नष्ट हो जाने से इस प्रकरण का कुछ भाग लुप्त हो गया है।

यहाँ भी मूल प्रकृतियों में ओघ से अवस्थित पद के काल का कथन करते हुए पवाइज्जंत तथा अपवाइज्जंत उपदेश का निर्देश किया है।

पदनिक्षेप

उक्त भुजगार अल्पतर आदि पद उत्कृष्ट भी होते हैं और जघन्य भी होते हैं। अतः इस प्रकरण में भुजगार के उत्कृष्ट वृद्धि और जघन्य वृद्धि ये दो भेद करके अल्पतर के उत्कृष्ट हानि और जघन्य हानि ये दो भेद करके तथा अवस्थित पद के उत्कृष्ट अवस्थान और जघन्य अवस्थान ये दो भेद करके कथन किया गया है। अतः पदनिक्षेप के समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारों में से प्रत्येक के उत्कृष्ट और जघन्य ये दो भेद करके कथन किया है।

इस प्रकरण का भी ताड़पत्र नष्ट हो जाने से कितना ही अंश लुप्त हो गया है।

वृद्धि

वृद्धि पद से यहाँ वृद्धि, हानि, अवस्थित और अवक्तव्य इन चारों का ग्रहण होता है। इन चारों के अवान्तर भेद बारह हैं – अनन्त भाग वृद्धि, अनन्तभाग हानि, असंख्यातभागवृद्धि, असंख्यातभागहानि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागहानि संख्यातगुणवृद्धि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणहानि, अवस्थित और अवक्तव्य। यहाँ इन पदों की अपेक्षा समुत्कीर्तना आदि तेरह अनुयोगों का ओघ और आदेश से मूल तथा उत्तर प्रकृतियों में कथन किया है। यहाँ भी मूल प्रकृतियों की अपेक्षा वृद्धि अनुयोगद्वार का कथन करने वाला प्रकरण ताड़पत्र के नष्ट हो जाने से नष्ट हो गया है। केवल उत्तर प्रकृतियों का प्रकरण अवशिष्ट है।

अध्यवसानसमुदाहार

अध्यवसान समुदाहार के अन्तर्गत दो अनुयोगद्वार हैं – प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। प्रमाणानुगम में योगस्थानों और प्रदेशबन्धस्थानों के प्रमाण का कथन करते हुए बतलाया है कि ज्ञानावरणीय कर्म के असंख्यात प्रदेशबन्धस्थान है जो योगस्थानों से संख्यातवें भाग प्रमाण अधिक है। इसका कारण भी बतलाया है।

जीवसमुदाहार

जीवसमुदाहार के अन्तर्गत भी दो अनुयोगद्वार हैं – प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। प्रमाणानुगम में चौदह जीवसमासों के आश्रय से जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थानों को कथन करने के बाद, उन्हीं चौदह जीवसमासों के आश्रय से जघन्य और उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध स्थानों के अल्पबहुत्व का कथन किया

है। तथा अल्पबहुत्व में उसके जघन्य उत्कृष्ट और जघन्योत्कृष्ट भेद करके ओघ व आदेश से सब मूल व उत्तर प्रकृतियों के प्रदेशों के बन्धक जीवों के अल्पबहुत्व का कथन किया है।

इस प्रकार महाबन्ध के अन्तर्गत प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबंधाधिकारों के विषय का यह सामान्य परिचय है। चारों अधिकारों की शैली तथा अनुयोगद्वार आदि सब समान है। केवल आधारभूत प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध आद बन्धों को लेकर ही विषय भेद पाया जाता है। इनका विवेचन ओघ और आदेश के आधार पर किया गया है।

महाबन्ध के उपर्युक्त वस्तु–विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त–ग्रन्थ में अनुयोगद्वार पूर्वकबन्ध के भेदों का विवेचन किया गया है। इस विवेचन–सन्दर्भ में जिन भुजगार आदि बन्ध–विकल्पों का कथन आया है उनका उत्तरकालीन साहित्य पर पूरा प्रभाव दिखायी पड़ता है। वास्तव में बन्ध का ऐसा सूक्ष्म और विस्तृत प्रतिपादन अन्यत्र दुर्लभ है। वैदिक साहित्य में तो कर्म का विवेचन अधिक नहीं मिलता। बौद्ध साहित्य में अवश्य अभिधर्मशास्त्र में कर्म की अच्छी मीमांसा की गई है पर जो गाम्भीर्य जैन कर्म मीमांसा में है वह बौद्ध कर्म मीमांसा में नहीं है।

इस संस्करण को तैयार करने में आध्यात्मिक मनीषी जैनदर्शन के गंभीर विद्वान पूज्य स्वामीजी का स्नेहिल पथ दर्शन और सान्निध्य हमारा सम्बल रहा है । उन्हीं के निर्देशानुसार यह सुन्दर संस्करण आपके समक्ष है मेरी पत्नी डॉ. पुष्पलता जैन ने भी भाषाविज्ञान विषयक अनेक सुझाव दिये जिनका उपयोग इस संस्करण में किया गया है । इस प्रकार के प्रत्यक्ष – अप्रत्यक्ष रूप में सभी सहयोग देने वालों के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूं । उन विद्वानों को भी कैसे भुलाया जा सकता है जिनके ग्रन्थों का उपयोग हमने भरपूर किया है । ऐसे विद्वानों में पं. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, पं. बालचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, पं. फूलचंद सिद्धान्त शास्त्री, पं. सूमेरुचन्द्र शास्त्री एवं डॉ. हीरालाल जैन आदि विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । उन सभी विद्वानों की गंभीर विद्वत्ता को प्रणाम करते हुए उनके प्रति पुनः कृतज्ञतापूर्वक नतमस्तक हूं ।

प्रोफेसर (डॉ.) भागचन्द्र जैन भास्कर
संयुक्त निदेशक, राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं शोध संस्थान श्रवणबेलगोल,
मैसूर विश्वविद्यालय (हासन) कर्नाटक
तुकाराम चाल, सदर, नागपुर – 440 001
फोन नं. : 0712 – 2541726

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और उनकी ग्रन्थ सम्पदा

आचार्य नेमिचन्द्र जैन सिद्धान्त ग्रन्थों के गम्भीर अध्येता और विश्रुत चिन्तक थे। कर्म सिद्धान्त के मर्मज्ञ के रूप में उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की है। उन्होंने धवला का आधार लेकर गोम्मटसार, जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड तथा जय धवला का आधार लेकर लब्धिसार नामक ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त तिलोयपण्णत्ति और तत्त्वार्थवार्तिक के आधार पर त्रिलोकसार ग्रन्थ लिखा। क्षपणसार और द्रव्यसंग्रह को भी उनकी रचनाओं में गिना जाता है।

षड्खण्डागम की गंभीरता और अगाधता का अवगाहन विद्वत्ता की पहिचान बन गई थी। आचार्य नेमिचन्द्र ने उसका गहन पारायणकर सिद्धान्तचक्रवर्ती का विरुद प्राप्त किया। आचार्य वीरसेन के समय तक इस प्रकार के विरुद उपाधि का कोई उल्लेख देखने में नहीं आया। आचार्य नेमिचन्द्र कदाचित् प्रथम विद्वान थे जिन्हें इस उपाधि से अलंकृत किया गया। इस तथ्य को उन्होंने स्वयं निम्न गाथा में उल्लिखित किया है –

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साधिदं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साधिदं होदि ।।३९७

आचार्य नेमिचन्द्र कर्णाटक प्रदेशवासी विद्वान थे। उनके विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती। मात्र प्रशस्ति के रूप में जीवकाण्ड में एक गाथा है और कर्मकाण्ड के अन्त में आठ गाथाएं उपलब्ध हैं। इनमें स्वयं के विषय में अधिक कुछ नहीं कहा। अपने आश्रयदाता चामुण्डराय का ही प्रशस्तिगान अधिक है। इनमें गोम्मट चामुण्डराय के गुरु का नाम अजितसेन मिलता है पर स्वयं के गुरु का नामोल्लेख नहीं मिलता। त्रिलोकसार की अन्तिम गाथा क्रम १०१८ में नेमिचन्द्र मुनि और उनके गुरु अभयनन्दि का उल्लेख अवश्य हुआ है। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत अन्य प्रकरणों में अभयनन्दि के अतिरिक्त वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि के भी नामों का उल्लेख हुआ है (गाथा नं. ४३६, ७८५, ८९६) इन गाथाओं में उन्हें 'सुदसायरपारागं' कहा गया है। संभव है उनका यह विरुद रहा हो और इसी आधार पर आचार्य नेमिचन्द्र को सिद्धान्त चक्रवर्ती विरुद देकर उनके प्रति सम्मान प्रगट किया गया हो। इन गुरुओं में अभयनन्दि ज्येष्ठ रहे होंगे। नेमिचन्द्राचार्य के शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्य भी इसी कोटि के विद्वान थे जिन्होंने उनके त्रिलोकसार पर संस्कृत टीका की रचना की थी। इन विद्वानों के विषय में इससे अधिक जानकारी नहीं मिलती। वीरनन्दि चन्द्रप्रभचरित के रचयिता होंगे। आ. नेमचन्द्र देशीयगण के थे।

गंगनरेश राचमल्लदेव का प्रधान सचिव और सेनापति चामुण्डराय आचार्य नेमिचन्द्र सि. च. का परम शिष्य था। उसी की प्रार्थना पर उन्होंने षट्खण्डागम का आधार लेकर जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड का प्रणयन किया और उसी के नाम पर इसका नाम गोम्मटसार रखा। श्रवणबेलगोल की प्रसिद्ध भ. बाहुबलि की ५७ फीट ऊंची अद्वितीय प्रतिमा का निर्माण सेनापति चामुण्डराय ने कराया था और उसके उपनाम के आधार पर उसे गोम्मटेश्वर कहा जाने लगा। वह एक वीर योद्धा और कुशल प्रशासक तो था ही, जैन संस्कृति का मान्य विद्वान भी था। उसने जीवकाण्ड पर कन्नड वृत्ति भी लिखी थी।

समय

आचार्य नेमिचन्द्र चामुण्डराय के गुरु थे। चामुण्डराय ने अपना चामुण्डराय पुराण शक सं. ९०० (वि. सं. १०३५) में समाप्त किया। आचार्य नेमिचन्द्र ने कर्मकाण्ड में गोम्मट जिन की मूर्ति-निर्माण का उल्लेख किया है (गाथा ९६८-६९)। पर यह उल्लेख चामुण्डरायपुराण में नहीं मिलता। गोम्मट जिन मूर्ति का निर्माण कब हुआ, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। मूर्ति की प्रतिष्ठा गंगनरेश राजमल्ल द्वितीय के राज्यकाल (वि. सं. १०३१-१०४१) में हुई। बाहुबली

चरित के अनुसार यह प्रतिष्ठा वि. सं. १०३७-३८ में हुई। उस समय कल्कि सं. यह प्रतिष्ठा वि. सं. १०३७-३८ में हुई। उस समय कल्कि सं. ६०० चैत्र शुक्ल ५ रविवार था।

"कल्क्यशब्दे षट्शंताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासिचैत्रे
पञ्चम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे ।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो वेल्गुलनगरे गोम्मटेश प्रतिष्ठाम् ।।"

प्रो. घोषाल ने इस तिथि की गणनाकर उक्त तिथि को २ अप्रेल ९८० निश्चित किया, गोविन्द पै ने इसे १३ मार्च ९८१ तय किया। डॉ. नमिचन्द्र शास्त्री ने भी इसी तिथि का समर्थन किया। डॉ. हीरालालजी ने यह तिथि २३ मार्च १०२८, शामशास्त्री ने ३ मार्च १०२८, श्री कण्ठशास्त्री ने ९०७-८ ई. और प्रेमीजी ने ९८१ ई. की तिथि सुझाई है। इन सभी तिथियों में डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा समर्थित तिथि ही आज मान्य है। इसलिए आचार्य नेमिचन्द्र का भी समय यही माना जाना चाहिए। रन्न ने अपना अजितनाथ पुराण शक. सं. ९१५ (वि. सं. १०३५) में समाप्त किया था। गंग राचमल्ल का समय भी वि. सं. १०३१-१०४१ रहा है। अमितगति ने अपने संस्कृत पंचसंग्रह को वि. सं. १०७३ में समाप्त किया जिसमें गोम्मटसार जीवकाण्ड के विषय को आत्मसात किया गया है। अतः नेमिचन्द्र का समय दशमी शताब्दी का उत्तरार्ध होना चाहिए। चामुण्डपुराण में चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर मूर्ति की स्थापना का कोई उल्लेख नहीं किया। परन्तु गोम्मटसार कर्मकाण्ड में इसकी चर्चा हुई है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि गोम्मटेश्वर की रचना के पूर्व मूर्ति प्रतिष्ठा हुई है।

चामुण्डराय का एक नाम गोम्मट भी था। इसलिए बाहुबली की मूर्ति को गोम्मटेश्वर कहा गया। चामुण्डराय गंगनरेश राजमल्ल के प्रधान सचिव और सेनापति थे। नेमिचन्द्र सि. च. इन्हीं चामुण्डराय के गुरु थे।

चामुण्डराय

चामुण्डराय मध्यकाल का एक ऐसा जाज्वल्पमान व्यक्तित्व रहा है जिसमें योद्धा, अध्यात्मवेत्ता, प्रशासन और मनीषी विद्वान की सारी विशेषताएं एक साथ समाहित रही हैं। वे मातृभक्त, जिनभक्त और सरस्वती के महान् उपासक थे जिन्होंने श्रवणबेलगोल में भगवान बाहुबली की ५७ फीट ऊंची भव्य प्रतिमा का निर्माण कराया था।

चामुण्डराय ने अपने चामुण्डराय पुराण या त्रिषष्टिलक्षण-महापुराण में स्वयं के बारे में जो कुछ भी सूचना दी है उसके अनुसार उनका जन्म ब्रह्मक्षत्रिय परिवार में हुआ था। वे गंगवंशीय नोणम्ब कुलान्तकदेव (मारसिंह) राजा के महामात्य (महामन्त्री) थे (९६४-९७४ ई.स.)। अजितसेन भट्टारक उनके गुरु थे और राचमल्ल (चतुर्थ) उनके उत्तराधिकारी हुए। उसने राजादित्य, गोविन्दरस आदि राजाओं के दांत खट्टे किये और अपने युद्धकौशल से अन्य राजाओं के मन में तीव्र भय पैदा कर दिया था। वज्वलदेव को युद्ध में पराजित कर उसने समरधुरन्धर पदवी प्राप्त की, गोणूर में जगदेकमल्ल से हुए नोलम्ब युद्ध ने उसे वीर मार्तण्ड बनाया, उच्चंगी के किले में राजादित्य के विरुद्ध किये युद्ध से उसे रणरंग सिंग बना दिया। बागेयूर के किले में त्रिभुवनवीर को मारने से उसे वैरिकुल कालदण्ड कहा गया, राज, बास, सिवर, कूणांक और अन्य योद्धाओं को काम राजा के किले में पराजित करने से भुज विक्रम उपाधि मिली, मुण्डराय या चलदंक गंग और गंगरमट को युद्ध में मारने से उसे समयपरशुराम कहा गया। इसी तरह प्रतिपक्ष राक्षस, भटमारि आदि और भी अन्य उपाधियां उसे दी गईं। उसके कुशल समर योद्धा होने के उपलक्ष्य में। इसी क्रम में धार्मिक और नैतिक होने के कारण उसे गुणकाव, सम्यक्त्व रत्नाकर, शौचाभरण, सत्य युधिष्ठिर और सुभटचूडामणि भी कहा गया।

चामुण्डराय को गोम्मट, गोम्मटराय, राय या अण्ण भी कहा जाता था। उनके ही नाम पर भ. बाहुबली की प्रतिमा को गोम्मटेश्वर कहा जाने लगा। इसके अतिरिक्त चन्द्रगिरि पर ही उन्होंने, स्तम्भ, त्यागद ब्रह्मदेव स्तम्भ और चामुण्डराय वसदि (मन्दिर) का भी निर्माण कराया। यहीं स्तम्भ पर चामुण्डराय की प्रशस्ति भी मिलती है । उनके सुपुत्र जिनदेव ने भी यहां एक मन्दिर बनवाया था ।

चामुण्डराय ने अपने त्रिषष्टिलक्षण महापुराण (शक सं. ९०० ई. ९७८) में अपने पूर्ववर्ती आचार्यो और लेखकों का उल्लेख किया है। जैसे –

१) गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की (पद्य ३)

२) सिद्धसेनाचार्य जिन्होंने सन्मतितर्क प्रकरण लिखा (पद्य ४)

३) समन्तभद्राचार्य जिनका तत्त्वार्थभाष्य या गन्ध हस्तिभाष्य बडा प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा है। ९६ हजार पद्यों में रचित इस ग्रन्थ का उल्लेख गुणवर्म के कन्नड पुष्पदन्तपुराण (१.२२) में, हस्तिमल्ल ने विक्रान्तकौरव में।

४) धर्मभूषण ने न्यायदीपिका में और लघु समन्तभद्र ने अष्टसहस्री टिप्पण में गन्धहस्तमहाभाष्य का उल्लेख मिलता है। पर यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इस पर मुख्तार सा. ने विस्तार से विचार किया है पुरातन जैन वाक्य सूची में।

५) पूज्यपाद भट्टारक एक प्रसिद्ध दार्शनिक और वैय्याकरणिक।

६) कवि परमेश्वर जिनका त्रिषष्टिशलाका पुरुषपुराण उपलब्ध है (पद्य ८) और चामुण्डराय ने जिसका उपयोग किया है अपने कन्नड पुराण में

७) वीरसेन भट्टारक और जिनसेनाचार्य। वीरसेन आर्यनन्दि के शिष्य और चन्द्रसेन के शिष्य थे। ये पंचस्तूप्नन्वयी थे जो बाद में सेनान्वय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने एलाचार्य से सिद्धान्त का अध्ययन किया। उनके उपलब्ध ग्रन्थ हैं – १) धवलाटीका ७२ हजार श्लोक प्रमाण और जयधवलाटीका, २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखने के बाद उनकी मृत्यु हो गई और फिर जिनसेन ने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका और जोडी ८१७ ई. में। इन ग्रन्थों को सिद्धान्त संज्ञा दी गई। जिनसेन का शिष्य राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष था। जिनसेन के दो ग्रन्थ और मिलते हैं – १) पार्श्वाभ्युदय और महापुराण जिसे गुणभद्र ने बाद में पूरा किया (पद्य ११–१३,२५)

८) धर्मसेनाचार्य जो चन्द्रिकावाटवंश के थे (पद्य १४)

९) कुमारसेन (पद्य १६)

१०) नागसेन, वीरसेन और चन्द्रसेन (पद्य १६)

११) आर्यनन्दि या आर्यसेन (पद्य १७)

१२) अजितसेनाचार्य (पद्य १९–२०) चामुण्डराय और उसके पुत्र जिनदेवण के गुरु

१३) कूचि भट्टारक, महापुराण के लेखक (पद्य २४)

१४) श्रीनन्दि

१५) भूतबलि और पुष्पदन्त षट्खण्डागम के लेखक

१६) गुणधर, कसायपाहुड के रचयिता

१७) नागहस्ति, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य

१८) माघनन्दि १९) श्यामकुन्द २०) तम्बूलूराचार्य २१) समन्तभद्र २२) शुभनन्दि, रविनन्दि और वप्पदेव २३) एलाचार्य २४) अजितसेन।

गोम्मट

गोम्मट शब्द का प्रयोग श्रवणबेलगोल, कारकल और वेणूर शिलालेखों में तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवती के पंचसंग्रह या गोम्मटसार में हुआ है। बेलगोल के शिलालेख में बाहुबलि को गोम्मटेश्वर कहा गया है। शिलालेखों में इसे गोम्मटदेव, गोम्मटीशजिन, गोम्मटनाथ आदि जैसे नामों से भी स्मरण किया गया है।

चामुण्डराय ने इस मूर्ति का निर्माण बेलगोल में कराया (Ec. II Introduction P. 15)। चामुण्डराय के लिए नेमचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार की रचना की।

चामुण्डराय का सम्बन्ध श्रवणबेलगोला की भव्यमूर्ति बाहुबलि स्वामी के साथ तो है ही गोम्मटसार के साथ भी रहा है। गोम्मटसार की अन्तिम गाथाओं (जीवकाण्ड, गाथा ७३३ और कर्मकाण्ड, गाथा ९६५–७२) में चामुण्डराय के दूसरे नाम गोम्मटराय या गोम्मट का उल्लेख हुआ है। इसी तरह चामुण्डराय का इस अपर नाम गोम्मट का उल्लेख श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख (११८० ई.) में भी हुआ है (Ec. II 234)। चामुण्डराय का यह नाम गृहस्थावस्था का अर्थात् घरेलू रहा होगा।

गोम्मट शब्द का प्रयोग दृष्टान्तपाठ (पद्य १०,१३), ज्ञानेश्वरी (पद्य ३.९; ८.२४३; ९.३३२), अमृतानुभाव (पद्य ६.११), भास्कर का शिशुपालवध (पद्य ६५२) आदि जैसे मराठी ग्रन्थों में बहुत हुआ है जिसका अर्थ है आकर्षक, सुन्दर। कन्नड में भी इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है (Ec. II No. 25, 345)। तेलगु में 'गुम्मडु' शब्द मिलता है जिसका अर्थ है जो स्वयं को सुसज्जित करता है। दक्षिणी कन्नड में गोम्मटदेव, तमिल में कुम्मट्ट है। यह शब्द प्राकृत व्याकरण के धात्वादेश 'गुम्मड' में खोजा जा सकता है। वस्तुतः यह दक्षिण भारतीय भाषाओं का शब्द होना चाहए। हिन्दी में जो गुम्मट शब्द आया है वह पार्शियन गुम्मद–गुम्मज से आया है। डॉ. उपाध्ये ने भी यही सुझाया है ।

जे. एल जैनी ने गोम्मट का अर्थ दिव्यध्वनि किया है अर्थात् गोम्मटसार का तात्पर्य है – भगवान महावीर की दिव्यध्वनि का सार। गोम्मटदेव का अर्थ कहीं–कहीं महावीर के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। डॉ. पाई ने गोम्मट को मन्मथ से जोडा है जो भाषाविज्ञान की दृष्टि से सही नहीं लगता।

आचार्य नेमिचन्द्र सि. च. के सन्दर्भ में हमें पञ्चस्तूपान्वय पर भी विचार कर लेना चाहिए। क्योंकि यह परम्परा उत्तरापथ से लेकर दक्षिणापथ तक प्रचलित रही है। कदाचित् वह मूलसंघ की परम्परा से पूर्ववर्ती हो।

पञ्चस्तूपान्वय

जैन मुनि सम्प्रदाय किसी न किसी संघ, गण, गच्छ, अन्वय आदि से सम्बद्ध रहा है। इन नामों के पीछे क्या इतिहास रहा है यह अभी भी पूरी तरह से स्पष्ट नहीं है। पर इतना स्पष्ट अवश्य है कि इन संघों और अन्वयों के अनुयायी श्रावक गण हुआ करते थे। धवला टीकाकार वीरसेन स्वयं पञ्चस्तूपान्वयी थे (शक सं. ७३८;८१६ ई.)।

पहाडपुर (राजस्थान) ताम्रपत्र शिलालेख (४७९ ई. गुप्त सं. १५०) में पञ्चस्तूप निकाय का दो बार उल्लेख हुआ है – वटगोहल्यामवास्याङ्काशिक पंचस्तूपनिकायिक – निर्ग्रन्थ–श्रमणाचार्य–गुहनन्दि शिष्य–प्रशिष्याधिष्ठित–विहारे...।

इस शिलालेख में पंचस्तूपनिकाय के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य-प्रशिष्यों के विहार का उल्लेख है जो वाटगोहालि में था। यदि काशिका को काशी मान लिया जाये तो पंचस्तूपान्वय का सम्बन्ध वाराणसी से प्रस्थापित हो सकता है।

श्रवणबेलगोल के एक टूटे शिलालेख (Ec. II No. 75) में 'ममस्तूपान्वय' का उल्लेख है जो पंचस्तूपान्वय होना चाहिए। इसी तरह वीरसेन ने धवलाटीका (८१६ ई.) में और जिनसेन ने जयधवला (शक सं. ७५९, ८३७ ई.) में इसका उल्लेख किया है। जिनसेन ने वीरसेन को पञ्चस्तूपान्वयी माना है पर गुणभद्र ने महापुराण (उत्तरपुराण, पृ. ७५४-५५) में वीरसेन और जिनसेन को मूलसंघ का सेनान्वयी माना है -

मूलसंघवाराशौ, मणीनामिव सर्चिषाम्।
महापुरुषरत्नानां स्थानं सेनान्वयोऽजनि ।।२।।

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार पुण्ड्रवर्धन के अर्हद्बली ने पञ्चस्तूपनिवास से कुछ मुनियों को आमन्त्रित किया जिनके नाम सेनान्त और भद्रान्त थे। इस सन्दर्भ में उन्होंने एक परम्परागत पद्य उद्धृत किया-

आयातौ नन्दिवीरो प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटाद्
देवाश्चान्योऽपरादिर्जित इतियतिपौ सेनभद्राह्वयौ च।
पञ्चस्तूप्यात् सगुप्तो गणधर वृषभः शाल्मलीवृक्षमूलात्
निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ।।९६।।

दो अन्य पद्य भी उद्धृत हुए हैं -

अन्ये जगु र्गुहाया नन्दिनो महात्मानः।
देवाश्चाशोकवनात् पंचस्तूप्यात् ततः सेनः ।।९७।।
पंचस्तूप्यास्तु सेनानां वीराणां शाल्मलीद्रुमः।
खण्डकेसर नामा च भद्रः सिंहोऽस्य संमतः।।

इसके अनुसार इन्द्रनन्दि (११ वीं शती) ने सेनान्त और भद्रान्त साधुओं को पञ्चसतूपान्वयी कहा है। पहाडपुर शिलालेख श्रुतावतार के इन उल्लेखों से यही सिद्ध होता है कि यह पंचस्तूपान्वय उत्तरभारत में ४७८ ई. तक बडा प्रसिद्ध रहा है। गुहनन्दि उसके प्राचीनतम आचार्य का नाम था। लगभग ७ वीं शदी से दक्षिण में उसका अस्तित्व मिलने लगा। इस अन्वय के एक साधु वृषभनन्दि ने श्रवणबेलगोल में सल्लेखना पूर्ण मृत्युवरण की। बाद में ८१६ ई. में वीरसेन ने स्वयं को पंचस्तूपान्वयी कहा। उनके गुरु आर्यनन्दि और दादागुरु चन्द्रसेन थे। लगता है, इस अन्वय को वीरसेन के बाद सेनान्वय कहा जाने लगा। गुणभद्र ने जिनसेन और वीरसेन को सेनान्वय के अन्तर्गत रखा है। और फिर गुणनन्दी जैसे नाम भी आ गये।

हम जानते हैं वीरसेन और जिनसेन सिद्धान्त मर्मज्ञ थे जिन्होंने धरसेन से सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त किया। पर धरसेन के अन्वय का कोई उल्लेख नहीं मिलता। सेनगण का प्राचीनतम उल्लेख मूलगुण्ड शिलालेख (९०० ई.) में मिलता है। पर पंचस्तूपान्वय के विषय में स्पष्टतः कुछ नहीं कहा जा सकता। अधिक संभव है, यह अन्वय बंगाल में आविर्भूत हुआ और उसने श्रवणबेलगोल तक यात्रा की जिसमें आचार्य तपस्वी के रूप में प्रसिद्ध भी हुए। डॉ. उपाध्ये का भी यही मत है। संभव है, पञ्च-परमेष्ठियों के नाम पर पंचस्तूप की परम्परा प्रारम्भ हुई हो और उसी के आधार पर पञ्चस्तूपान्वय की परम्परा आविर्भूत हुई है जिसमें धरसेनादि आचार्य सम्मिलित हुए हैं। बाद में पञ्चस्तूप समाप्त हो गये हों और मथुरा का एक ही

विशाल स्तूप शेष रहा हो। फिर भी उत्तरापथ में पञ्चस्तूप किसी तरह चलता रहा और बाद में वह दक्षिण में प्रचलित हो गया। यह भी संभावना हो सकती है कि पञ्चस्तूप परम्परा मूलसंघ की पूर्ववर्ती हो और उसके स्थान पर ही मूलसंघ का प्रवर्तन हुआ है। फिर किसी कारणवश दोनों परम्परायें समवर्ती रूप में प्रचलित बनी रही हों।

गुरु

आचार्य नेमिचन्द्र ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपने गुरुओं के रूप में अभयनन्दि, वीरन्दि और इन्द्रनन्दि का स्मरण किया है। कर्मकाण्ड की गाथा क्र. ४३६, ६४८ और ७८५ में उन्होंने तीनों को नमस्कार किया है। पर त्रिलोकसार की गाथा क्र. १०१८ में उन्होंने अपने को अभयनन्दि का वत्स्य शिष्य माना है। इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि इन तीनों गुरुओं में उन्हें अभयनन्दि से अधिक स्नेह-वात्सल्य मिला है। ये तीनों गुरु श्रुतसमुद्र के पारगामी रहे हैं। इनमें वीरनन्दि चन्दप्रभचरित के कर्ता हो सकते हैं और इन्द्रनन्दि ज्वालामालिनीकल्प (वि. सं. ९९६) के रचयिता के रूप में माने जा सकते हैं। अभयनन्दि इन सभी में वयोवृद्ध रहे होंगे।

पं. कैलाशचन्द्रजी ने विस्तर सत्व त्रिभंगी नामक कर्मग्रन्थ के रचयिता के रूप में कनकनन्दि का उल्लेख किया है। इसकी दो प्रतियां जैन सिद्धान्त भवन आरा में सुरक्षित हैं। एक में ४८ गाथाएं हैं और दूसरी में ५१। इन गाथाओं को नेमिचन्द्राचार्य ने अपने कर्मकाण्ड में गाथा क्र. ३५८ से ३९७ तक अन्तर्भूत कर लिया है। संभव है कनकनन्दि ने इन गाथाओं की रचना कर्मकाण्ड के लिए की हो। नेमिचन्द्र ने वहां उन्हें कनकनन्दि गुरु कहा है। कनकनन्दि के गुरु इन्द्रनन्दि थे और इन्द्रनन्दि के गुरु अभयनन्दि थे। अतः नेमिचन्द्र के ज्येष्ठ सहपाठी के रूप में उनका स्मरण यहां किया गया है।

हम जानते हैं, श्रुतावतार में इन्द्रनन्दि ने यह सूचना दी है कि वप्पभट्टि ने षट्खण्डागम से महाबन्ध को पृथक् कर दिया था और व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक छठे खण्ड को संक्षिप्त कर उसमें मिला दिया था। वीरसेन ने व्याख्याप्रज्ञप्ति के आधार पर सत्कर्म नामक छठे खण्ड की रचना की और उसे पांच खण्डों के साथ रखकर पुनः छह खण्ड कर दिये। ये अभयनन्दि वप्पदेव के बाद हुए होंगे और वप्पदेव वीरसेन के गुरु एलाचार्य से पूर्व हुए। अभयनन्दि ने पूज्यपाद देवनन्दि के जैनेन्द्र व्याकरण पर महावृत्ति लिखी थी और उनको प्रभेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र (९८०-१०३५ ई.) ने अपने 'शब्दाम्भोज भास्कर' नामक न्यास ग्रन्थ में नमस्कार किया है अतः नेमिचन्द्र के गुरु अभयनन्दि यही हो सकते हैं।

रचनाएं

आचार्य नेमिचन्द्र की निर्विवाद रचनाएं हैं - गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणसार और त्रिलोकसार। बाहुबलिचरित में इन्हीं तीनों का उल्लेख है (पद्य ६३)। इसके अतिरिक्त द्रव्यसंग्रह का भी नाम उनकी रचनाओं में संमिलित किया जाता रहा है।

१) गोम्मटसार

गोम्मटसार की रचना आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने शिष्य चामुण्डराय के लिए की थी। इसका मूल आधार षट्खण्डागम की धवला टीका है। गोम्मटसार के दो भाग हैं - जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड में जीव की प्ररूपणा की गई है और कर्मकाण्ड में कर्म विषयक विचारणा को प्रस्तुत किया गया है। यह वस्तुतः संग्रह ग्रन्थ है। आचार्य ने भले ही इसका संकेत नहीं किया हो कि उसका संग्रह किस ग्रन्थ से किया गया है पर षट्खण्डागम का मंथन करने के बाद विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह संग्रह धवलाटीका से किया गया है। इसके साथ ही पंचसंग्रह का भी उपयोग अच्छी तरह से हुआ है।

जीवकाण्ड

जीवकाण्ड का विषय वीस प्ररूपणाओं से संबद्ध है और कर्मकाण्ड में कर्म का विवेचन किया गया है। सत्प्ररूपणा आचार्य भूतबली की रचना है। यह जीवसमास नामक प्रथम अधिकार है षट्खण्डागम का जो विंशति सूत्रों से निर्मित है। ये बीस सूत्र कौन से हैं इसका पता पंचसंग्रह की दूसरी गाथा से स्पष्ट हो जाता है। तदनुसार गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति प्राण, संज्ञा, और चौदह मार्गणा तथा उपयोग ये बीस प्ररूपणाएं हैं। इनका विवेचन पंचसंग्रह के जीवसमास नामक प्रथम अधिकार में उपलब्ध है। धवलाटीकाकार ने कदाचित् इस प्राकृत पंचसंग्रह का उपयोग किया होगा। इसमें प्राकृत पंचसंग्रह की लगभग १२५ गाथाएं समाहित हैं। जीवसमास नामक कोई ग्रन्थ उपलब्ध भी नहीं है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अवश्य एक जीवसमास ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जो लगभग १२ वीं शताब्दी का है। वह जीवसमास पंचसंग्रह के जीवसमास पर आधारित है। जीवसमास की गाथा संख्या ६९ में आर्ष शब्द का प्रयोग हुआ है जो पंचसंग्रह को धवलाटीका से भी पूर्वतर का मानने के लिए बाध्य करता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने जीवसमास और जीवट्ठाण का उपयोगकर जीवकाण्ड की रचना की।

जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार और त्रिलोकसार की रचना श्रवणगेलगोल के चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय द्वारा निर्मापित जिनालय में इन्द्रनीलमणि नेमीश्वर प्रतिबिम्ब के सान्निध्य में हुई है। उनमें चामुण्डराय का गुणगान किया गया है। जीवकाण्ड की रचना छक्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान के आधार पर हुई है और कर्मकाण्ड तथा पंचसंग्रह में शेष खण्डों के विषय को समाहित किया गया है। जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड की समन्वित संज्ञा 'पंचसंग्रह' दी गई है। पर ऐसा लगता है, आचार्य नेमिचन्द्र ने पंचसंग्रह नामक ग्रन्थ को स्वतन्त्र रूप से तैयार किया था जिसे हमने यहां सम्मिलित किया है।

जीवकाण्ड में ७३४ गाथाएं हैं। इसमें जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्ध स्वामित्व, वेदना खण्ड और वर्गणाखण्ड, इन पांच विषयों का वर्णन है। गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन बीस प्ररूपणाओं में जीव की विविध अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है। संभव है पंचसंग्रह की रचना गोम्मटसार के पूर्व हुई है और फिर उसके आधार पर जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड का संग्रह किया गया हो। जीवकाण्ड का संग्रह पंचसंग्रह के जीवसमास अधिकार तथा षट्खण्डागम के प्रथमखण्ड जीवट्ठाण के सत्प्ररूपणा नामक अधिकारों से कया गया है। जीवकाण्ड में पंचसंग्रह की अपेक्षा विस्तार अधिक हुआ है। इसमें गणित विषय अधिक है।

गोम्मटसार की टीकाएं

गोम्मटसार पर अभी तक ढूंढारी टीका सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका के अतिरिक्त दो महत्त्वपूर्ण संस्कृत टीकाएं प्राप्त हुई हैं – १) अभयचन्द्र की मण्डप्रबोधिका और २) केशव वर्णी की जीवतत्त्वप्रदीपिका। ये दोनों टीकाएं कलकत्ता से गोम्मटसार के साथ प्रकाशित हुई हैं। उसी में पण्डित टोडरमल की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भी छपी हुई है। मण्डप्रबोधिका टीका जीवकाण्ड की ३८३ गाथा तक ही उपलब्ध होती है मुद्रण रूप में। जीवतत्त्वप्रदीपिका एक विस्तृत टीका है जिस के ही आधार पर उत्तरकाल में टीकाएं लिखी गईं। जीवतत्त्व प्रदीपिकाकार ने मण्दप्रबोधिका का भी आधार लिया है ३८३ गाथाओं तक और बाद में कर्णाटवृत्ति को सामने रखकर अपनी टीका पूरी की है – श्रीमदअभसचन्द्रसैद्धान्त-चक्रवर्तिविहित-व्याख्यानं विश्रान्तमिति कर्णाटवृत्यनुरूपमयमनुवदति (पृ. ७६०, ६६०)। इस जीवतत्त्वप्रदीपिका के लेखक है केशववर्णी। इसे लगभग सभी विद्वान स्वीकार करते हैं। इस विचार के पीछे निम्नलिखित कारिका का आधार है –

श्रित्वा कर्णाटकी वृत्तिं वर्णिश्रीकशवैः कृतिः।
कृतेयमन्यथा किंचिद् विशोधां तद् बहुश्रुतैः।। जीवकाण्ड पृ. १३२९

जीवतत्त्व प्रबोधिका टीका वस्तुतः केशववर्णी कृत नहीं है, उसके रचयिता नेमिचन्द्र हैं ऐसा डॉ. उपाध्ये का मत रहा है। उनका कहना है कि यह भ्रम टोडरमलजी द्वारा लिखित अपनी ढूंढारी टीका के अन्तिम पद्य से हुआ है –

केशववर्णी भव्यविचार कर्णाटटीका अनुसार ।
संस्कृत टीका कीनी यहु नो अशुद्ध सो शुद्ध करेहु ।।

यह पद्य जीवतत्त्व प्रदीपिका के अन्तिम पद्य का ही अनुवाद है। वह जिस कर्णाटक वृत्ति पर आधारित रही है वह चामुण्डराय विरचित टीका थी जो आज उपलब्ध नहीं है। उस टीका का नाम था वीरमार्तण्डी। आचार्य नेमिचन्द्र ने भी चामुण्डराय को मार्तण्ड कहा है। इस संस्कृत टीका के रचयिता वस्तुतः नेमिचन्द्र हैं। उन्होंने केशववर्णीकृत कर्णाटकवृत्ति का आधार लेकर यह टीका लिखी थी। केशवर्णीकृत टीका का नाम भी जीवतत्त्वप्रदीपिका था। अभयचन्द्र ने अपनी टीका के मंगलश्लोक में यह लिखा है –

नेमिचन्द्रं जिनं नत्वा सिद्धं श्री ज्ञानभूषणम् ।
वृत्तिं गोम्मटसारस्य कुर्वेकर्णाटवृत्तितः।।

इसी टीका के अन्त में लिखा मिलता है –

श्रित्वा कर्णाटिकीं वृत्तिं वर्णिश्री कैशवैः कृताम्।
कृतेय मन्यथा किंचित् विशोध्यं तद् बहुश्रुतैः।।

यहां 'कृताम्' के स्थानपर 'कृतिः' शब्द टोडरमलजी को मिला जिसके कारण यह भूल हो गई। जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका संस्कृत कन्नडमिश्रित टीका है जो केशववर्णीकृत है और उसी पर आधारित संस्कृतटीका नेमिचन्द्र की है जिसमें गणितादि प्रक्रिया और जोड दी गई है, नवीन कुछ भी नहीं है। यही टीका अधिक प्रचलित है।

प्राकृत शोध संस्थान श्रवणबेलगोल में कर्णाटकवृत्ति पर काम हो रहा है। प्रकाश में आने पर स्थिति और भी स्पष्ट हो जायेगी।

डॉ. उपाध्ये ने जीवकाण्ड के ही पृ. २०९२-८ को उद्घृतकर यह सिद्ध किया कि जीवतत्त्वप्रदीपिका के लेखक आचार्य नेमिचन्द्र थे। वे मूलसंघ, शारदागच्छ, बलात्कारगण, कुन्दकुन्दान्वय और नन्दि अम्नाय के थे। ज्ञानभूषण भट्टारक के शिष्य थे। प्रभाचन्द्र भट्टारक ने उन्हें आचार्यपद दिया था। कर्णाटक के राजा मल्लिभूपाल की प्रेरणा से उन्होंने वैदिक विद्वान परमेश्वर मुनिचन्द्र से जैन सिद्धान्त का अध्ययन किया। लाला वर्णी की प्रेरणा से वे गुजरात से चित्रकूट आये जहां जिनदास शाह द्वारा निर्मित पार्श्वनाथ मन्दिर में रुके। वहां धर्मचन्द्र, अभयचन्द्र और अन्य धार्मिक लोगों के लाभ की दृष्टि से खण्डेलवाल परिवार के शाह संग और शाह सहेस के निवेदन पर उन्होंने संस्कृत टीका जीवतत्त्वप्रदीपिका त्रैविद्यविद्य विशालकीर्ति की सहायता से और कर्णाटक वृत्ति का आधार लेकर यह टीका लिखी। इस टीका की पहली प्रतिलिपि अभयचन्द्र ने की जिन्हें निर्ग्रन्थाचार्य और त्रैविद्य चक्रवर्तिन कहा गया। यहां यह उल्लेखनीय है कि आचार्य नेमिचन्द्र का नाम गद्य प्रशस्ति में स्पष्टरूप से दिया है – नेमिचन्द्रेणाल्पमेधसा.... यथा कर्णाटवृत्ति व्यरचि। इतना ही नहीं, गोम्मटसार की इस टीका के अन्त में भी यह लिखा मिलता है –

इत्याचार्यश्री नेमिचन्द्र विरचितायां गोम्मटसारापरनाम पंचसंग्रहवृत्तो जीवतत्त्वप्रदीपिकायां....।

जीवतत्त्वप्रदीपिका के लेखक नेमिचन्द्र और नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती दोनों अलग-अलग हैं। अतः यह स्थापित किया जा सकता है कि जीवतत्त्वप्रदीपिका के लेखक केशववर्णी नहीं, नेमिचन्द्र हैं जो सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र से भिन्न हैं। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसार की रचना की थी।

केशववर्णी अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य थे। उन्होंने धर्मभूषण भट्टारक की प्रेरणा से कर्णाटवृत्ति सं. १२८१ (१३५९ ई.स.) में लिखी थी। डॉ. उपाध्ये ने लक्ष्मीसेन भट्टारक मठ, कोल्हापुर में इसकी पाण्डुलिपि देखी और उसका अध्ययनकर यह स्पष्ट किया कि इस कन्नडवृत्ति का भी नाम जीवतत्त्वप्रदीपिका है। यह प्रदीपिका संस्कृत जीवतत्त्वप्रदीपिका से बडी है। कन्नड वृत्तों से यह प्रारम्भ होती है और बीच-बीच में संस्कृत भी है। मणिप्रवालशैली में है। अभयचन्द्र की मण्डप्रबोधिका से भी केशववर्णी ने अपनी वृत्ति को मण्डित किया है। संस्कृत जीवतत्त्वप्रदीपिका कर्णाटक वृत्ति जीवतत्त्वप्रदीपिका पर पूर्णतः आधारित है। नेमिचन्द्र ने कन्नड में लिखे भाग को संस्कृत में परिवर्तित कर दिया। इसलिए उनका यह लिखना सही है – यथा कर्णाटवृत्ति व्यरचि या कर्णाअवृत्तितः।

इन दोनों वृत्तियों में मण्डप्रबोधिका प्राचीनतर है। अभयचन्द्र ने इस वृत्ति में बालचन्द्र पण्डितदेव का उल्लेख किया है। श्रवणबेलगोल शिलालेख (Ec. II. No.65) में उनका उल्लेख बोलेन्दु पण्डित नाम से हुआ है। यह शिलालेख १३१३ ई. का है। अभयचन्द्र की मृत्यु १२७९ ई. में हुई बेलूर शिलालेख (Ec. Vol. 5 No. 131-133) के अनुसार।

टोडरमल ने संस्कृत जीवतत्त्वप्रदीपिका के आधार पर अपनी हिन्दी टीका १७८१ ई. में समाप्त की। नेमिचन्द्र ने कर्णाटक राजा मल्लिभूपाल का उल्लेख किया जिसे जैनोत्तम कहा गया। इस राजा का नाम इतिहास में कहीं दिखाई नहीं देता। संभव है, किसी छोटी स्टेट का राजा रहा हो। एकमल्लि राजा का उल्लेख विजयकीर्ति और विद्यानन्द आचार्यो के सन्दर्भ में अवश्य मिलता है जिसने इन आचार्यो को सम्मान दिया था जो कर्नाटक के एक जिले का छोटा भूपाल सालुव मल्लिराय था जो कर्नाटक के एक जिले का छोटा सा राजा था। ई. सन् १५३० का एक रिकार्ड मिलता है जिसके आधार पर उसे १९ वीं शती के प्रथमचरण में रख सकते हैं।

अन्त में डॉ. उपाध्ये के मन्तव्य को संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि केशववर्णी संस्कृत टीका जीवतत्त्वप्रदीपिका के कर्ता नहीं थे। यह टीका चामुण्डराय की कर्णाटक वृत्ति पर भी आधारित नहीं रही। इसके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती से पृथक् नेमिचन्द्र थे जो केशववर्णी द्वारा रचित कन्नड जीवतत्त्व प्रदीपिका के ऋणी थे (१३५९ ई.)। नेमिचन्द्र सालुव मल्लिराय के समकालीन थे अतः उन्हें १६ वीं शती में रखा जा सकता है। मन्दप्रबोधिका टीका के सन्दर्भ में पं. कैलाशचन्द्रजी ने सारी टीकाओं का मिलानकर यह स्पष्ट कर दिया कि केशववर्णी के सामने कर्णाटकवृत्ति लिखते समय मन्दप्रबोधिका वृत्ति विद्यमान थी। उन्होंने कर्णाटकवृत्ति में उसके रचयिता अभयचन्द्र चक्रवर्ती का निर्देश किया है। इसे डॉ. उपाध्ये ने भी उद्धरण देकर सिद्ध किया है –

देसविरदे पमत्ते इदरे य खओव समिय भावो दु।
सो खलु चरित्तमोहं पडुच्च भणियं तहा उवरिं ।।१३।।

गाथा ३८३ के अन्त में जीवतत्त्वप्रदीपिका देकर मन्द प्रबोधिका के सामने यह वाक्य दिया गया है –

श्रीमदभयचन्द्र सैद्धान्तचक्रवर्तिविहित व्याख्यानं
विश्रान्तमिति कर्णाटवृत्यनुसार मनुवदति।

केशववर्णी ने अपनी टीका में गोम्मटसार के हर कथन को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनके गुरु अभयसिद्धान्तचक्रवर्ती थे। यह टीका बडी वैदुष्यपूर्ण है। मन्दप्रबोधिका टीका के रचयिता अभयचन्द्र ने अपने सखा बालचन्द्र का उल्लेख किया है जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोल के शिलालेख (सन् १३१३) में हुआ है। उनकी प्रशंसा बेलूर शिलालेख में भी हुई है। कैलाशचन्द्रजी ने अभयचंद्र का स्वर्गवास सन् १२७९ में तथा बालचंद्र का स्वर्गवास सन् १२०४ में बताया और इस तरह मन्दप्रबोधिका टीका का समय १३वीं शताब्दी का तीसरा चरण स्थापित किया। केशववर्णी ने अपनी वृत्ति धर्मभूषण भट्टारक के अनुसार शक सं. १२८१ (सन् १३५९) में समाप्त की।

संस्कृत जीवतत्त्वप्रदीपिका केशववर्णी की कर्णाटक वृत्ति का ही संस्कृत रूपान्तरण है। इस संस्कृत टीका के रचयिता नेमिचन्द्र हैं जिन्हें अभयचन्द्र ने 'नमिचन्द्रं जिनं नत्वा' कहकर स्मरण किया है। वे मूलसंघ, शारदागच्छ, बलात्कारगण, कुन्दकुन्दान्वय और नन्दि आम्नाय के थे। उनके गुरु का नाम भट्टारक ज्ञानभूषण था। उन्हें मल्लि भूपाल का सहयोग रहा है। भ. प्रभाचन्द्र ने उन्हें भट्टारक पद दिया था। विशालकीर्ति का भी सहयोग इस वृत्ति के लिखने में उन्हें मिला था। यह रचना उन्होंने चित्रकूट के पार्श्वनाथ जिनालय में रहकर कर्णाटवृत्ति से की। यह पद्यात्मक प्रशस्ति का सार है। गद्यात्मक प्रशस्ति में नेमिचन्द्र ने अपना नाम दिया पर रचनाकाल का संकेत नहीं किया। प्रशस्ति में उल्लिखित मल्ल भूपाल का समय १६ वीं शताब्दी है। डॉ. उपाध्ये ने यह सिद्ध किया है।

सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका के रचयिता पं. टोडरमलजी हैं जिसे उन्होंने सं. १८१८ में समाप्त किया। यह टीका गोम्मटसार, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार और क्षपणसार पर है। संस्कृत टीका के आधार पर उन्होंने यह टीका लिखी है। संदृष्टियों की दृष्टि से यह टीका बडी उपयोगी है। वे बहुश्रुत और गंभीर विद्वान थे। मोक्षमार्ग प्रकाशक उनकी अद्वितीय कृति है ही। पं. राजमल की प्रेरणा से यह टीका लिखी गई थी। गोम्मटसार पर एक उनकी भाषा पीठिका भी उपलब्ध है।

गोम्मटसार एक संग्रह ग्रन्थ है

आचार्य नेमिचन्द्र के समय तक धवला और जयधवला जैसे सिद्धान्त ग्रन्थों का पठन-पाठन लोकप्रिय हो चुका था। ये सिद्धान्तग्रन्थ अगाध, गम्भीर और वृहदाकार थे। नेमिचन्द्र स्वयं सिद्धान्त ग्रन्थों के मर्मज्ञ थे। उन्होंने इन ग्रन्थों का संक्षिप्त रूपान्तरण आवश्यक समझा और उसका संग्रह कर उन्हें और भी लोकप्रिय बना दिया। गोम्मटसंगहसुत्त-कर्मकाण्ड, गाथा ९८५, ९६८। इसके पीछे उनके विद्वान शिष्य चामुण्डराय की जिज्ञासा थी। उन्हें गोम्मट कहा जाता था। सो राओ गोम्मटो जयउ (कर्मकाण्ड, गा. ९७१)। उन्होंने इस सन्दर्भ में तीन गोम्मटों को जयवन्त कहा है – १) गोम्मटसंग्रहसूत्र, २) गोम्मट शिखर पर स्थित गोम्मट जिन, और ३) गोम्मटराज के द्वारा निर्मित दक्षिण कुक्कुट जिन अर्थात् भ. बाहुबली की उत्तुंग प्रतिमा (कर्मकाण्ड, गा. ९६८)। इनमें जीवतत्त्वप्रदीपिका के अनुसार प्रथम का सम्बन्ध गोम्मटसार से है, द्वितीय का सम्बन्ध चामुण्डराय द्वारा निर्मित प्रासाद में स्थित नेमीश्वर की इन्द्रनीलमणि की एक हाथ प्रमाण प्रतिमा जो चन्द्रगिरि पर चामुण्डरायवसति में अवस्थित थी। आज वह अनुपलब्ध है। तीसरे का सम्बन्ध उत्तर में भरत द्वारा निर्मित भ. बाहुबली की प्रतिमा जो कुक्कुटों से व्याप्त हो जाने के कारण कुक्कुट जिन कहलाती थी, दक्षिण में दक्षिण कुक्कुट जिन नाम से वैसी प्रतिमा विन्ध्यगिरि पर बनवायी गई। यह गाथा इस प्रकार है –

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिंहरूवरि गोम्मटजिणोय ।
गोम्मटविणिम्मियदक्खिण कुक्कुटजिणो जयउ ।। कर्म. ९६८

गोम्मटसार की मन्दप्रबोधिनी टीका में गोम्मटसार को 'पंचसंग्रह' अभिधान दिया गया है – गोम्मटसारनामधेय – पंचसंग्रहं शास्त्रं प्रारम्भमाणः, म.प्र.टी. पृ. ३। जीवतत्त्व प्रदीपिका टीकाकार (पृ. २) का भी यही मत है – गोम्मटसार पञ्चसंग्रह प्रपंचमारचयन्। आचार्य नेमिचन्द्र ने कहीं भी अपने ग्रन्थ गोम्मटसार को 'पंचसंग्रह' नहीं कहा। टीकाकारों ने जो यह नाम दिया है वह कदाचित् अमितगति के पंचसंग्रह को ध्यान में रखकर दिया होगा। अमितगति ने दि. प्राकृत पंचसंग्रह के आधार पर संस्कृत पंचसंग्रह की रचना की।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। उनके समय तक धवला, जयधवला आदि सिद्धान्तग्रन्थों का पठन-पाठन काफी लोकप्रिय हो चुका था। आचार्य नेमिचन्द्र ने उन ग्रन्थों का आधार लेकर गोम्मटसार जैसे ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों को उन्होंने स्वयं अपनी प्रशस्ति में उपर्युक्त रुप से इसे संग्रह ग्रन्थ माना है ।

गोम्मटसार के टीकाकारों ने इसे 'पंचसंग्रह' की भी संज्ञा दी है – १) गोम्मटसारनामधेय पंचसंग्रहं शास्त्रं प्रारम्भमाणः (मन्द प्र. टीका पृ. ३), २) गोम्मटसार पंचसंग्रह प्रपंचमारचयन् (जीव. केशव टी. वर्णी पृ. २)। मन्दप्रबोधिनी टीकाकार ने इसे जीवस्थान खण्ड में संग्रहीत माना और केशववर्णी ने उसे छहों खण्डों से संग्रहीत कहा। परन्तु इनमें बन्धक, बन्धयमान, बन्ध के स्वामी बन्ध के कारण और बन्ध के भेद इन पांच तत्त्वों पर विचार किया गया है। आचार्य नेमिचन्द्र ने कहीं भी अपने ग्रन्थ गोम्मटसार को 'पंचसंग्रह' का अभिधान नहीं दिया। टीकाकारों ने जो यह नाम दिया है वह कदाचित् अमितगति के पंचसंग्रह को ध्यान में रखकर दिया होगा। उपलब्ध प्राकृत पंचसंग्रह आचार्य नेमिचन्द्र की स्वतन्त्र कृति होनी चाहिए जिसका विषय गोम्मटसार से मिलता जुलता है। इसमें कर्मस्तव, प्रकृतिसमुत्कीर्तन, जीवसमास, शतक और सत्तरी ये पांच प्रकरण हैं। इन प्रकरणों को ४४५ गाथाओं में व्यवस्थित किया गया है जिसपर ८६४ भाष्य गाथाएं भी रची गई हैं। इसमें कुछ अंश प्राकृत गद्य में भी है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी एक प्राकृत पंचसंग्रह है जो चन्द्रर्षि महत्तर द्वारा रचित है। इसकी रचना लगभग छठी शती की है। इसमें ९६३ गाथाएं हैं जो पांच द्वारों में विभक्त हैं – ग्रन्थशतक, सप्तति, कसायपाहुड,षटकर्म और कर्मप्रकृति। संभवतः इसी प्राकृत पंचसंग्रह को देखकर आचार्य नेमिचन्द्र ने अपना पंचसंग्रह ग्रन्थ तैयार किया हो। इसी पंचसंग्रह के आधार पर अमितगति ने संस्कृत पंचसंग्रह की रचना की।

आचार्य नेमिचन्द्र के ग्रन्थ भले ही संग्रह ग्रन्थ कहे जायें पर उनके वैशिष्ट्य पर विचार करने के बाद ऐसा लगता है कि उन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थों की श्रेणी दी जानी चाहिए। यह तथ्य इन ग्रन्थों के वैशिष्ट्य देखने से समझ में आ सकता है। श्री पं. कैलाशचंद्र शास्त्री और बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने षट्खण्डागम, धवला, जयधवला, मूलाचार, तत्त्वार्थकार्तिक, गोम्मटसार, प्राकृत पंचसंग्रह आदि ग्रन्थों का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन किया है। उन्होंने इसी प्रसंग में कर्मकाण्ड की विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। इन विशेषताओं को हम संक्षेप में इस प्रकार देख सकते हैं।

सत्प्ररूपणा और जीवकाण्ड

सत्प्ररूपणा में पहले मार्गणाओं का विवेचन है, बाद में गुण स्थानों का। पंचसंग्रह के जीवसमास में पहले गुणस्थानों को लिया है बाद में मार्गणाओं को। गोम्मटसार में भी पंचसंग्रह का ही क्रम रखा गया है। सत्प्ररूपणा की धवला टीका में बहुत सी गाथाएं पंचसंग्रह के जीवसमास नामक अधिकार से ली गई हैं। जीवकाण्ड का संकलन पंचसंग्रह के जीवसमास नामक अधिकार और षट्खण्डागम के जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड के सत्प्ररूपणा और द्रव्यप्रमाणानुगम अधिकारों की धवला टीका के आधार पर हुआ है। उसी का विस्तार गोम्मटसार में किया गया है। जीवसमास की २१९ गाथाओं में समाहित विषय को नेमिचन्द्राचार्य ने ७३४ गाथाओं में पूरा किया है। उन्होंने संक्षिप्त जीवसमास और षट्खण्डागम के विस्तृत जीवट्ठाण के विषय को मध्यममार्ग अपनाकर गोम्मटसार के वैशिष्ट्य को प्रस्तुत किया है। सिद्धान्त ग्रन्थों में दो शैलियां प्रचलित रहीं – ओघ (संक्षेप) और आदेश (विस्तार)। गुणस्थानों के वर्णन में ओघ का उपयोग हुआ है और मार्गणाओं में आदेश पद्धति का प्रयोग हुआ है।

१) प्रथम गुणस्थान के वर्णन में जीवसमास ने तीन गाथाएं ली हैं जबकि जीवकाण्ड में इस विषय को ११ गाथाओं में गूंथा गया है।

२) जीवसमास में ३१ गाथाओं तक चौदह गुणस्थानों का कथन है जो जीवकाण्ड में ६९ गाथा पर्यन्त है।

३) जीवसमास में ११ गाथाओं में जीवसमास का वर्णन मिलता है जबकि जीवकाण्ड में यह प्रकरण ४२ गाथाओं में पूरा हुआ है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी एक जीवसमास नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसका लेखक आज भी अज्ञात है।

उसकी विवेचन पद्धति से ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ धवलाटीकाकार का ऋणी है। उसे प्राचीन प्राकृत संग्रह तथा धवला के विषय का आधार लेकर संकलित कर दिया गया। आचार्य नेमिचन्द्र के जीवकाण्ड–कर्मकाण्ड का भी प्रभाव उस पर दिखाई देता है। जीवसमास शब्द का प्रयोग गुणस्थान के लिए प्रथमतर रहा होगा। आगे दोनों शब्दों का प्रयोग बना रहा है। नेमिचन्द्राचार्य ने भी जीवकाण्ड गाथा ९–१० में जीवसमास शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए जीवसमास को गुणस्थान के विकासगत अध्ययन का आधार नहीं बनाया जा सकता है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड

कर्मकाण्ड में ९ अधिकार हैं और ९७२ गाथाएं हैं। ९ अधिकार इस प्रकार हैं – १) प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २) बन्धोदय सत्त्व, ३) सत्त्वस्थानभंग, ४) त्रिचूलिका, ५) स्थान समुत्कीर्तन, ६) प्रत्यय, ७) भावचूलिका, ८) त्रिकरण चूलिका और ९) कर्मस्थितिरचना। इस ग्रन्थ में जैन दर्शन के अनुसार षड्खण्डागम के आधार पर कर्म का विवेचन किया गया है। इसके विषय को हम षड्खण्डागम और महाबन्ध की प्रस्तावना में दे चुके हैं।

भवचक्र की प्रक्रिया कर्मबन्ध के कारण होती है। सांसारिक विषमता का मूल कारण भी कर्म ही है। लगभग सभी दर्शनों ने कर्मवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। कर्म के अस्तित्व की मान्यता के साथ आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति भी जुडी हुई है। अनात्मवादी बौद्ध भी उसे अस्वीकार नहीं कर सके। सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक आदि दर्शन तो उसे स्वीकार करते ही हैं। नैयायिक–वैशेषिक कर्म संस्कार को धर्म–अधर्म कहते हैं, योग उसे कर्माशय की संज्ञा दे है और बौद्ध कर्म के साथ ही अनुशय शब्द का प्रयोग करते हैं।

जैनदर्शन में कर्म दो प्रकार के होते हैं – द्रव्यकर्म और भावकर्म। भावकर्म एक प्रकार के संस्कार हैं और द्रव्यकर्म को योग–न्याय दर्शन की वृत्ति और प्रवृत्ति के साथ बैठा सकते हैं। जैन दर्शन में कर्म मात्र संस्कार ही नहीं हैं, वे हमारे राग–द्वेष की प्रवृत्ति से आकृष्ट होकर द्रव्य आत्मा के साथ बंध जाते हैं और समय पाकर शुभ–अशुभ फल देते हैं। इसमें जीव की मन–वचन–काय की प्रवृत्ति मूल कारण बनती है। इसे जीव की क्रिया के साथ पौद्गलिक कर्मबन्ध कहा जाता है। इसे अनादि माना जाता है जिसे रत्नत्रय के पालन करने से समाप्त किया जा सकता है। उसी को निर्वाण या मोक्ष कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग की समाप्ति ही भवचक्र की समाप्ति है। इसी का विस्तृत विवेचन यहां कर्मकाण्ड में किया गया है।

२) पंचसंग्रह

सर्वप्रथम हम पंचसंग्रह पर विचार कर लें। पंचसंग्रह नाम से चार ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं – दो प्राकृत में और दो संस्कृत में। प्राकृत में एक दिगम्बर परम्परा का है और एक श्वेताम्बर परम्परा का। संस्कृत में दोनों दिगम्बर परम्परा के हैं – एक लक्ष्मणसुत प्राकृत पंचसंग्रह और दूसरा अमितगतिकृत पंचसंग्रह। इसमें बाधक, बन्धयमान बन्ध के स्वामी, बन्धक कारण और बन्ध के भेद इन पांच तत्त्वों पर विचार किया गया है। दि. प्राकृत पंचसंग्रह आचार्य नेमिचन्द्र की स्वतन्त्र कृति होनी चाहिए। जिसका विषय गोम्मटसार से मिलता–जुलता है। इसमें कर्मस्तव, प्रकृतिसमुत्कीर्तन, जीवसमास, शतक और सत्तरी ये पांच प्रकरण हैं। इन प्रकरणों को ४४५ गाथाओं में व्यवस्थित किया गया है जिसपर ८६४ भाष्य गाथाएं रची गई हैं। इसमें कुछ अंश प्राकृत गद्य में भी है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्राकृत पंचसंग्रह चन्दर्षि महत्तर द्वारा रचित है। इसकी रचना लगभग दशवीं शती की है। इसमें ९६३ गाथाएं हैं जो पांच द्वारों में विभक्त हैं – ग्रन्थशतक, सप्तति, कसायपाहुड, षट्कर्म और कर्मप्रकृति। पंचसंग्रहकार की इस पर स्वोपज्ञ संस्कृत वृत्ति भी है तथा आचार्य मलयगिरि कृत संस्कृत टीका है । यह भी कर्मप्रकृति की तरह प्राकृत गाथाबद्ध है। इसमें पांच अधिकार भी हैं – योगोपयोग विषय मार्गणा, बंधक, बंधव्य, बंधहेतु और बंधविधि।

दि. प्राकृत पंच संग्रह को प्रकाश में लाने का श्रेय पं. परमानन्द जी को जाता है। 'अतिप्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह' शीर्षक से उनका लेख अनेकान्त वर्ष ३ कि. ३ में प्रकाशित हुआ था। बाद में पं. हीरालाल द्वारा संपादित होकर भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १९६० में प्रकाशित हो चुका है। इस पंचसंग्रह के अन्त में 'इदि पंचसंगहो समत्तो' लिखा मिलता है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार आदि के विषय में कुछ भी नहीं मिलता। पं. आशाधरजी ने भगवती आराधना की टीका मूलाराधना दर्पण की २१२४ वीं गाथा टीका में 'तदुक्तं पंचसंग्रहे' लिखकर छः गाथाएं उद्घृत की हैं। इससे इतना तो स्पष्ट है कि तेरहवीं शती में यह ग्रन्थ प्राकृत पंचसंग्रह के नाम से प्रसिद्ध हो चुका था। पर उसके रचनाकार के विषय में आशाधरजी भी मौन रहे। पं. कैलाशचन्द्र जी और बालचन्द्रजी ने उसका समय लगभग छठी शती निश्चित कर यह विचार व्यक्त किया है कि आचार्य नेमिचन्द्र जी उसके रचनाकार नहीं है। उनके अनुसार धवलाटीका में वीरसेन ने पंचसंग्रह की गाथाओं को उद्घृत किया है। वीरसेन ने धवला टीका की समाप्ति वि. सं. ८३८ (शक. सं. ७०३) में की और जयधवला टीका वि.सं. ८९४ (शक सं. ७५९) में समाप्त हुई। अतः पंचसंग्रह लगभग छठी शती की रचना होनी चाहिए। उन्होंने प्रबल प्रमाणों के साथ यह समय निश्चित किया है। पर इसकी संभावना अभी भी निरस्त नहीं की जा सकती है कि जिस तरह आचार्य नेमिचन्द्र ने धवला, जयधवला आदि का आधार लेकर गोम्मटसार ग्रन्थ लिखा उसी तरह प्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह के आधार पर उसी का संक्षिप्त संस्करण तैयार किया हो जिसे उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने विशेषतः आशाधरजी ने उद्घृत किया हो। आचार्य अकलंक, वीरसेन आदि के ग्रन्थों में जिस पंचसंग्रह की गाथाएं उद्घृत हैं वह प्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह रहा होगा। आचार्य नेमिचन्द्र के संग्रह का 'पंचसंग्रह' और प्राचीन संग्रह को प्राकृत पंचसंग्रह नाम देकर बाद में विभेदक रेखा खींच दी गई हो। यदि यह संभावना सही हो तो या तो आचार्य नेमिचन्द्र के पंच संग्रह की खोज होनी चाहिए। या फिर प्रस्तुत प्राकृत पंचसंग्रह को आचार्य नेमिचन्द्र सि. च. का संग्रह को ग्रन्थ मान लिया जाना चाहिए। मुझे ऐसा लगता है कि प्रस्तुत प्राकृत संग्रह के संग्रहकार आचार्य नेमिचन्द्र रहे हैं। प्राचीन प्राकृत संग्रह ग्रन्थ को उन्होंने पूरी तरह से इसमें आत्मसात कर लिया और इसी कारण वह आज अनुपलब्ध हो गया। धवलाकार ने जिस प्राकृत संग्रह का उल्लेख किया है वह प्राचीन प्राकृतसंग्रह रहा होगा जो आज उपलब्ध नहीं होता।

जीवकाण्ड और पंचसंग्रह

१) जीवकाण्ड में बीस प्ररूपणाओं का कथन किया गया है – गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा १४ मार्गणाएं और उपयोग। इन्हीं प्ररूपणाओं का वर्णन पंचसंग्रह के जीवसमास नामक अधिकार में मिलता है। जीवसमास की अधिकांश गाथाएं जीवकाण्ड में यथावत् मिल जाती हैं। सत्प्ररूपणा में इन वीस प्ररूपणाओं का ऐसा कथन नहीं मिलता।

२) जीवकाण्ड का संकलन षड्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवट्ठाण के सत्प्ररूपणा और द्रव्य परिमाणानुगम नामक अधिकारों की धवलाटीका के आधार पर किया गया है।

३) लगता है, जीवकाण्ड पंचसंग्रह का संक्षिप्तीकरण है। पंचसंग्रह के ही विषय को जीवकाण्ड में विस्तार दिया गया है। इस विस्तार को हम गाथाओं की संख्या के आधार पर इस प्रकार देख सकते हैं –

विषय	जीवकाण्डगत गाथाएं	पंचसंग्रहगत गाथाएं
१) गुणस्थान	६८	३०
२) जीवसमास	४८	११
३) पर्याप्ति	११	२

४) प्राण	५	६
५) संज्ञा	५ (स्वामीकथन विशेष)	५
६) मार्गणा	जीवों की संख्या का कथन	यहां नहीं है
७) इन्द्रियमार्गणा	इन्द्रिय विषय का विस्तार	यहां नहीं है
८) कायमार्गणा	त्रसों का वासस्थान, जीवों से अप्रतिष्ठित शरीर, स्थावर जीवों के शरीर का आकार	यहां नहीं है
९) कषाय मार्गणा	कषायों का भेद-प्रभेद	यहां नहीं है
१०) ज्ञान मार्गणा	श्रुतज्ञान के वीसभेद, अवधिज्ञान के भेद १६६ गाथाएं	१० गाथाएं
११) लेश्या मार्गणा	विस्तृत विवरण	यहां नहीं है
१२) सम्यक्त्व मार्गणा	सम्यक्त्व के भेद, छह द्रव्य, नव पदार्थ वर्णन	यहां नहीं है

यहां यह भी उल्लेखनीय है अमितगति ने अपने संस्कृत पंच संग्रह को लिखते समय प्राकृत पंचसंग्रह तथा गोम्मटसार को गहराई से देखा था और उसका यथावश्यक उपयोग भी किया था। उन्होंने ३६३ मिथ्यामतों का संकलन कर्मकाण्ड से लिया। प्रा. पंचसंग्रह में यह है ही नहीं। जीवकाण्ड के कषाय मार्गणा में पंचसंग्रह की अपेक्षा अधिक विस्तार दिया गया है विषय को। इससे इतना तो स्पष्ट है कि अमित गति का संस्कृत पंचसंग्रह गोम्मटसार और प्राकृत पंचसंग्रह को सामने रखकर संकलित किया गया है। इसी तरह धवला में भी पंचसंग्रह की बहुत-सी गाथाएं उद्घृत हुई हैं। जीवसमास नामक प्रकरण से धवला में 'जीवसमा ए पि उत्तं' कहकर धवलाकार ने पंचसंग्रह का स्वयं उल्लेख भी कर दिया है।

पंचसंग्रह में प्रथम प्रकरण जीवसमास है और षड्खण्डागम के प्रथम खण्ड का नाम 'जीवस्थान' है। दोनों का अर्थ लगभग समान है जो जीवों की विविध जातियों के परिज्ञान से संबद्ध है। यह परिज्ञान सत्प्ररूपणादि आठ अनुयोगद्वारों के माध्यम से कराया गया है। दोनों में प्राचीन गाथाएं समान रूप से उद्घृत हुई हैं।

प्राकृत पंचसंग्रह की चौथी गाथा के बाद के गद्य भाग में मूल प्रकृतियों के विवरण पर षडखण्डागम के जीवस्थान की द्वितीय चूलिका का प्रभाव दिखाई देता है। दोनों ग्रन्थों में इस प्रकरण को प्रकृतिसमुत्कीर्तन कहा गया है। षड्खण्डागम की धवलाटीका से प्राचीन गाथाओं की एक लम्बी संख्या पंचसंग्रह के जीवसमास नामक अधिकार में उपलब्ध होती हैं।

लब्धिसार - क्षपणसार

इसमें ६४३ गाथाएं हैं। लब्धिसार-क्षपणसार गोम्मटसार का ही उत्तरभाग है। लब्धिसार में कर्मबन्धन से मुक्त होने का उपाय बताया गया है। और यह उपाय है सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की पृष्ठभूमि में पांच लब्धियां होती हैं – क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि। इनमें करणलब्धि से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। यह करणलब्धि अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण की प्राप्ति से होती है। इसी से प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। क्षायिक सम्यग्दृष्ट जीव उसी भव में या तीसरे/चौथे भव में मोक्ष प्राप्त करता है। क्षायिक सम्यक्त्व के साथ दर्शनलब्धि का वर्णन समाप्त हो जाता है।

चारित्रलब्धि में एकदेशचारित्र को अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व के साथ ग्रहण करता है और सादिमथ्यादृष्टि जीव उपशम या वेदक सम्यक्त्व के साथ ग्रहण करता है। सकल चारित्र तीन प्रकार का होता है – क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक। क्षायोपशमिक चारित्र छठे और सातवें गुणस्थान में होता है। वेदक सम्यग्दृष्टि जीव को पहले क्षायिक या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है फिर चारित्रमोह का उपशम करता है। तब वह ग्यारहवें उपशान्त कषाय गुणस्थान में पहुंचता है। अन्तर्मुहुर्तकाल के बाद वहां से उसका पतन हो जाता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का काल भी अन्तमुहुर्त है।

चारित्रमोह का क्षय होने पर जीव बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में पहुंचता है। फिर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म को नष्टकर तेरहवें संयोगकेवली गुणस्थान में पहुंचता है और सर्वज्ञ बन जाता है। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहने पर शेष चारों आघातिया कर्मो का नाश करके तीसरे शुक्लध्यान के द्वारा अयोगकेवली हो जाता है और मुक्त बन जाता है।

६४९ गाथाओं में से टीकाकार नेमिचन्द्र ने मात्र ३९१ गाथाओं तक ही टीका लिखी है। यहां तक चारित्रमोह की उपशमना का कथन किया गया है। आगे के चारित्रमोह क्षपणा वाले भाग पर माघचन्द्र त्रैविद्य ने संस्कृत टीका लिखी है और उसे क्षपणसार की संज्ञा दी है।

द्रव्यसंग्रह

आचार्य श्रुतसागरसूरि के समय तक द्रव्यसंग्रह के कर्ता के रूप में सि.च. नेमिचन्द्र का ही स्मरण किया जाता था। जैसा निम्न श्लोक से पता चलता है – दंसण पुव्वं णाणं, छद्मत्थाणं ण दोण्णि उवओगा। जुगवं जम्हा केवलि णाहे जुगवं तुदे दो वि । पर पं. मुख्तार, द्रव्यसंग्रह (३.६.४४) आदि विद्वानों ने इसे नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव की कृति मानी है। डॉ. दरबारी लाल कोठिया ने द्रव्यसंग्रह की प्रस्तावना में यह सिद्ध किया है कि इसके रचयिता केशोरायपाटन (कोटा) वासी और भोजदेव कालीन (११वीं शती) सिद्धान्तदेव नेमिचन्द्र हैं, सि.च. नेमिचन्द्र नहीं। उन्हें नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव या नेमिचन्द्र मुनि कहा जाता था। वृहद् द्रव्यसंग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव ने उनका परिचय भी दिया है। कोठिया जी ने चार नेमिचन्द्र का उल्लेख किया है प्रथम नेमिचन्द्र सि.च. द्वितीय वसुनन्दि सिद्धान्तदेव, तृतीय नेमिचन्द्र गोम्मटसार की जीवतत्त्वप्रदीपिका संस्कृत टीका के रचयिता और चतुर्थ नेमिचन्द्र द्रव्यसंग्रह के रचयिता। द्रव्यसंग्रहकार के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव थे जिनका समय वि.सं. ११२५ के आसपास होना चाहिए। लघुद्रव्य संग्रह (२५ गा.) और वृहद् द्रव्यसंग्रह (५८ गा.) ये दो ग्रन्थ उन्हीं के हैं। वृहद् द्रव्यसंग्रह पंचास्तिकाय की शैली पर लिखी गई है। इसके बावजूद अभी भी यह प्रश्न यथावत् है कि द्रव्यसंग्रह के रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र हैं या सिद्धान्तदेव नेमिचन्द्र। हमने इसीलिए अपने इस संग्रह में द्रव्यसंग्रह को भी समाहित किया है क्योंकि त्रिलोकसार टीका के प्रारम्भ में माधवचन्द्र ने अपने गुरु का नाम नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव लिखा है और अन्तिम गाथा की टीका में स्वकीय गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रीणां अथवा ग्रन्थकर्तृणां नेमिचन्द्र सिद्धान्त देवानाम्, लिखकर सिद्धान्त चक्रवर्ती और सिद्धान्तदेव पद का प्रयोग एक ही व्यक्तित्व के लिए किया गया है।

द्रव्यसंग्रह भी आगमिक ग्रन्थों के द्रव्य विषयक तत्त्व का संग्रह है। साधारण पाठक के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। पण्डित प्रवर आशाधर ने अपनी अनगारधर्मामृत टीका में और वसुनन्दि सिद्धान्तदेव ने उपासकाध्ययन में नेमिचन्द्र का उल्लेख बडे आदपूर्वक किया है। इसमें छह द्रव्य, सप्त तत्त्व, नौ पदार्थ, पंच परमेष्ठी, ध्यान आदि के लक्षणों को व्यवहार और निश्चयनय की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। ये लक्षण सुगम, सुबोध और प्रामाणिक हैं।

त्रिलोकसार

त्रिलोकसार करणानुयोग का ग्रन्थ है जिसमें लोक–अलोक का विभाग, उत्सर्पिणी आदि रूप से कालभेद, चतुर्गति, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि का वर्णन है। इसमें कुल १०१८ गाथाएं हैं जो ६ अधिकारों में विभक्त हैं – १) लोकसामान्याधिकार, २) भावनाधिकार, ३) व्यन्तरलोकाधिकार, ४) ज्योतिर्लोकाधिकार, ५) वैमानिक लोकाधिकार और ६) नरकर्तिर्यक्लोकाधिकार। इसका आधार ग्रन्थ हैं तिलोयपण्णत्ति और तत्त्वार्थराज वार्तिक के तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय। जैन परम्परा में करणानुयोग के अन्य ग्रन्थ हैं – षड्खण्डागम, तिलोयपण्णत्ति, जम्बूद्वीपपण्णत्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, ज्योतिषकरण्ड, वृहत् क्षेत्रसमास, वृहत् संग्रहणी आदि।

१. लोकसामान्य व नरक अधिकार इसमें लोक, अलोक आदि की परिभाषा देते हुए मान के लोक और लोकोत्तर के भेद से छह भेद बताये गये हैं – मान, उन्मान, अवमान, गणिमान, प्रतिमान और तत्प्रतिमान। गणना के तीन भेद हैं – संख्यात, असंख्यात, और अनन्त। असंख्यात के तीन भेद हैं – परीतानन्त, युक्तासंख्यात, तथा असंख्यातासंख्यात। इसी तरह अनन्त के भी तीन भेद हैं – परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। संख्यात का कोई भेद नहीं। इस प्रकार गणना के कुल २१ भेद होते है – १+३+७+३=२१ । इसी अधिकार में चौदह धाराओं का भी वर्णन मिलता है – १. सर्वधारा २. समधारा ३. विषमधारा ४. कृतिधारा ५. अकृतिधारा ६. घनधारा ७. अघनधारा ८. कृतिमातृका या वर्गमातृका ९. अकृतिमातृका या अवर्गमातृका १०. घनमातृका ११. अघनमातृका १२. द्विरूपघनधारा और १४. द्विरूपघनाघनधारा ।उपमा प्रमाण के ८ भेद हैं – पल्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर और लोक। अधोलोक और ऊर्ध्वलोक के क्षेत्रफल भी नरकों के पटल आदि का वर्णन हुआ है। इनके क्षेत्रफल निकालने के लिए सामान्य, ऊर्ध्वायत, तिर्यगायत, यवमुरज, यवमध्य, मन्दर, दूष्य और गिरिकटक इन आठ आकृतियों का चित्रण किया गया है।

२. भावनाधिकार

इसमें भवनवासी देवों और इन्द्रों तथा उनकी भवन संख्या का वर्णन है। ये देव मुनष्य पर्याय में तपश्चरणकर पुण्य संचय करते हैं, देवायु का बंध करते हैं और सम्यक्त्व से च्युत होकर भवनवासी देव होकर मनोहर इष्ट भोग भोगते हैं। परिषद, अनीक आदि देवों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

३. व्यन्तरलोकाधिकार

व्यन्तर देव आठ प्रकार के होते हैं – किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। इनके परिवार, प्रासाद, नगर विमान आदि का भी वर्णन मिलता है।

४. ज्योतिर्लोकाधिकार

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णकतारा ये ज्योतिषी देवों के पांच भेद हैं। इनसे सम्बद्ध द्वीपों और समुद्रों की चर्चा की गई है। उनका व्यास और उनमें रहने वाले जीवों की अवगाहना आदि का भी कथन है। चन्द्र और सूर्य की अवस्थिति, देवियां, संख्या, आयु आदि का वर्णन है।

५. वैमानिक लोकाधिकार

इसमें सोलह स्वर्गो, उनके युगलों और इन्द्रों की विस्तृत चर्चा है। उनके नगर, मुकुट चिन्ह, वन, चैत्यवृक्ष, प्रवीचार, आयु, कुल आदि का वर्णन है।

६. नरक-तिर्यग्लोकाधिकार

इसमें अढाई द्वीप में तथा नन्दीश्वर, कुण्डलगिरि और रूचकगिरि, मेरु, कुलाचल, सरोवर, नदी, कूट, भोगभूमि-कर्मभूमि का विभाग।

त्रिलोकसार के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र ही हैं। उन्होंने उसकी प्रथम गाथा में ''बलगोबिन्द सिंहामणि किरणकलावरुणचरणणह किरणं' लिखकर एक ओर यह व्यक्त किया है कि तीर्थंकर नेमिचन्द्र को बलदेव और कृष्ण दोनों नमस्कार करते थे वहीं टीकाकार माधवचन्द्र की दृष्टि से यह भी प्रतीत होता है कि आचार्य नेमिचन्द्र को बल अर्थात् चामुण्डराय और गोविन्द अर्थात राचमल्लदेव, दोनों प्रणाम करते थे। इसी तथ्य को आचार्य ने त्रिलोकसार की अन्तिम गाथा में भी कह दिया है कि त्रिलोकसार उन्हीं की रचना है -

इदि णेमिचंदमुणिणा अप्पसुदेणभयणंदिवच्छेठा।
रइयो तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया ।।गा. १०१८

त्रिलोकसार पर आचार्य नेमिचन्द्र के शिष्य माधव चन्द्र ने टीका लिखी है। परन्तु आचार्य नेमिचन्द्र ने कुछ गाथाएं वहां 'माहवचंदुद्धरिया' कहकर माधव चन्द्र द्वारा रचित गाथाओं का भी संकलन किया है। उन्होंने परिकर्म, तिलोयपण्णत्ति तथा लोकविभाग आदि ग्रन्थों से भी गाथाएं आहृत की हैं।

इस तरह आचार्य नेमिचन्द्र सि.च. ने दिगम्बर जैन प्राकृत आगमों का आधार लेकर अपने ग्रन्थों की रचना की है। ये ग्रन्थ भले ही संग्रह ग्रन्थ जैसे लगते हों पर उनकी अपनी मौलिकता भी उनमें परिलक्षित होती है। इस दृष्टि से उन्हें मौलिक ग्रन्थों की श्रेणी में रखा जाना चाहिए।

भागचन्द्र जैन

दिनांक : २६.०९.२००८